सिद्धि
स्वरूप
वैभव
श्रीमद् रामहर्षण दासजी महाराज

।।श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः।।

श्री सिद्धि लक्ष्मीनिधिभ्यां नमः

श्री सिद्धि-स्वरूप-वैभव

अनन्त श्री विभूषित श्रीमद्रामानन्दीय द्वारा प्रतिष्ठापनाचार्य वर्य स्वामिपाद

श्रीमद् योगानन्दाचार्य

वंशावतंश निखिल संतवृन्द वन्दित पाद पद्माशेष शास्त्र पारङ्गत परमहंस परिव्राजकाचार्य सिद्ध पद प्रतिष्ठित जागदुद्धारक पंडित प्रवर

श्रीमद् रामवल्लभाशरण महाभाग

श्रीमद् अखिलेश्वरदास जी महाराज

चरण कमल चँचरीकेण प्रेममूर्ति पंचरसाचार्येण

श्रीमद् रामहर्षण दास

स्वामिनाप्रणीतं

प्रकाशक :

प्रकाशन विभाग

श्री रामहर्षण कुंज, परिक्रमा मार्ग, अयोध्या

श्री सिद्धि-स्वरूप-वैभव

लेखक

श्रीमद् रामहर्षण दासजी

प्रकाशक :
श्री रामहर्षण कुंज
परिक्रमा मार्ग
अयोध्या (उत्तर प्रदेश)

द्वितीयावृत्ति : १९९४

मूल्य : १०० रु. मात्र

मुद्रक :
अनुज प्रिंटर्स
लखनऊ फोन : २६७२२४
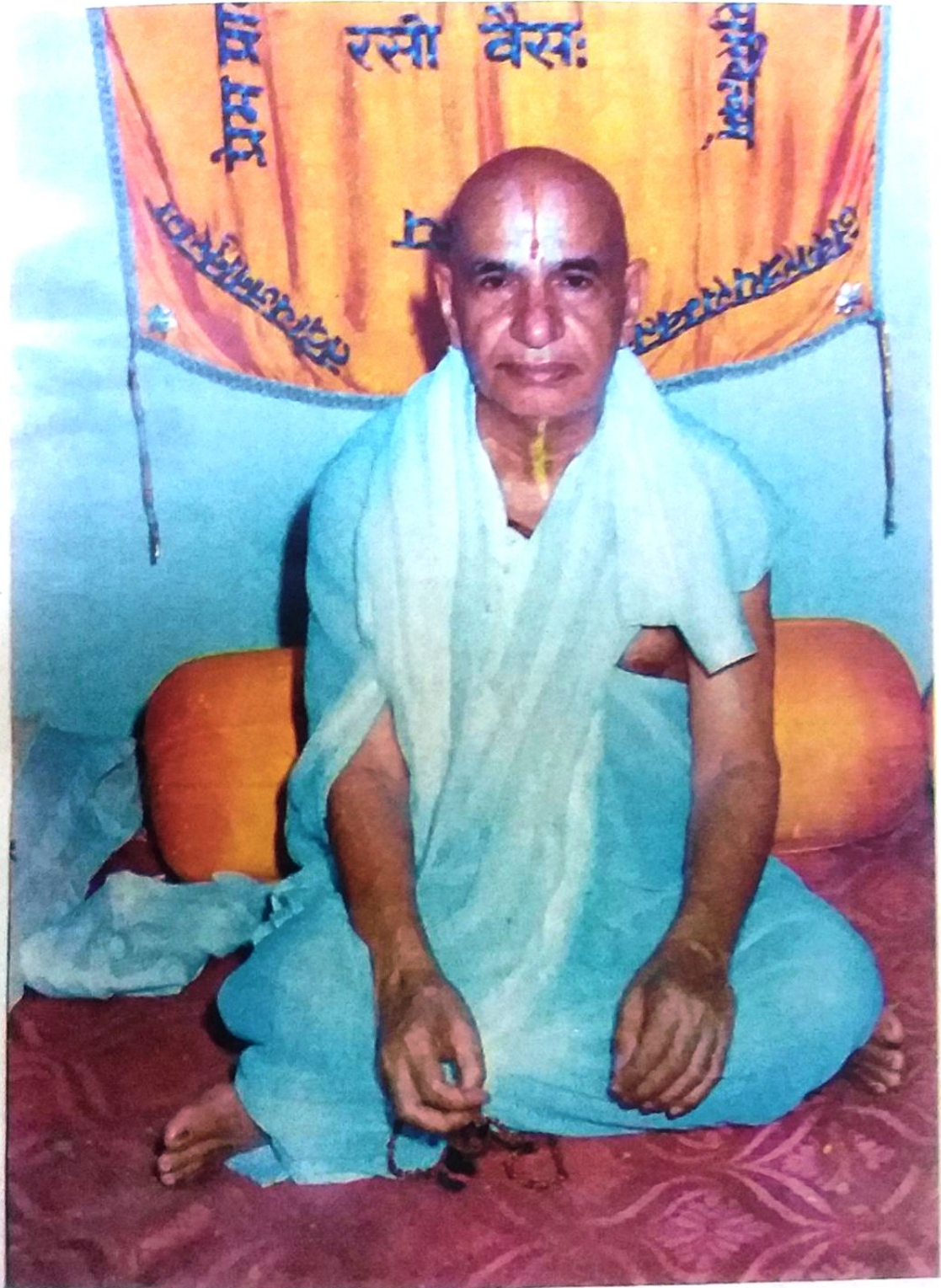
अनन्त श्री बिभूषित पञ्चरसाचार्य
श्रीमद् स्वामी रामहर्षण दास जी महराज

श्री सिद्धि-स्वरूप-वैभव

प्रस्तावना

नाटकीय रंगमंच की मनोहर रचना, कुशल कलाकारों की कीर्ति का उल्लेख सी करती हुई, दर्शकों की दृष्टि को अपनी ओर आकर्षित करने का पूर्ण परिचय दे रही है। गिरी हुई ज़वनिका में नाटक-नायिका के चरित्र-चित्रण के चित्र सम्बन्धी पात्रों के सहित सर्वाङ्गीण समुचित भाव भंगिमा के साथ चित्रित किये गये हैं। दृश्य-दर्शन के लिये दर्शकों की भीड़ प्रतीक्षा में परम आतुरता के साथ जवनिका को देख-देखकर धैर्य धारण कर रही है।

नान्दी का प्रवेश

[विविध प्रकार के वाद्यों के साथ नान्दी का मंगलाचरण-गान]

पद : रघुकुल-नागर, सुख के सागर, तुमहिं मनाऊँ श्री अवधेश।
राम-राम सिय-राम जपत हैं, विधि-हरि-हर अरु गिरा-गणेश।।
मिथिला अवध का मंगल होय, सीताराम रसहिं में मोय,
पगैं परस्पर नागरि - नागर, विहर पिता पुर श्वसुर के देश।।
जनक-सुवन लक्ष्मीनिधि नाम, सिद्धि कुँअरि तिनकी वर वाम,
गुण के आगर, वंश उजागर, प्रेम-मूर्ति सुठि सुन्दर वेष।।
सिय के भ्राता-भाभी जान, श्याला-सरहज राम के मान,
करहुँ प्रणाम चरित्र सुनाकर, रिझवहुँ सीता-राम रमेश।।
मंगल मही व्यौम का मंगल, मंगल चेतन-जड़-जिव मंगल,
हर्षण हर्ष जो हिय के गागर, सागर होवै मिटे कलेश।।

[नान्दी के पश्चात् सूत्रधार का प्रवेश-]

सूत्रधार : (प्रधान नट) आज दर्शनीय-दिव्य-दृष्य के दर्शनाभिलाषी महानुभावों को नम्रतापूर्ण निवेदन करता हूँ- आप लोग यह ज्ञात कीजिये कि रामानन्दीय वैष्णव-वंशावतंस श्री योगानन्द-कुलोत्पन्न अखिल वेद-वेदाङ्ग-निष्णात विशिष्टा द्वैत सिद्धान्त प्रतिष्ठापनाचार्य-अयोध्या निवासी पूज्यपाद श्रीमद् अखिलेश्वरदास जी महाराज के चरणाश्रित श्रीरामहर्षण दासजी नाम के एक संत हैं, उन्हीं से विनिर्मित, "सिद्धि-स्वरूप-वैभव" नामक ग्रन्थ में उल्लिखित श्री सिद्धि कुँअरि जी के चरित्र का अभिनय किया जा रहा है, जिसका प्रयोजन भारतीय-संस्कृति के अनुसार दुःखार्त, श्रमार्त और शोकार्त तपस्वियों को विश्रान्ति सुख देना है।

साधारण नट : अहो ! क्या कहना है, अमृत की वर्षा से सभी दर्शक अमृतमय हो जायेंगे, आनन्द का समुद्र उमड़ आयेगा क्योंकि अपनी निजी विशेषता के कारण वाङ्मय नाट्य में आनन्द का निर्झर निर्माण करने की सामर्थ्य स्वयं आ जाती है।

[विदूषक का प्रवेश-]

विदूषक : (नट की ओर तिरछे देखते हुये आश्चर्य से) नट के राजा ने क्या कहा, अभिनय होगा?

साधारण नट : हाँ, हाँ नाट्य होगा नाट्य, जो आद्योपान्त भरे हुये भगवद्भागवत के संश्लिष्ट चरित्र से भिन्न-भिन्न रुचि रखने वाली जनता को एक साथ प्रसन्न करने में सामर्थशाली सिद्ध होगा।

विदूषक : (हँसकर) अहहह, अभिनय में नटनी और नट की नाट्यकला का प्रसिद्ध प्रदर्शन होगा, बहुत अच्छे, बहुत अच्छे।

नट : हँसने के अतिरिक्त और आप कुछ कहना चाहते हैं जी, कि बस ? विनोद प्रियजी !

विदूषक : हाँ जी, हम यह जानना चाहते हैं कि कौनसा अभिनय होगा तथा उसमें ब्रह्मानन्द के सहोदर जेष्ठ-श्रेष्ठ-भ्राता परमानन्द का प्रदर्शन होगा या नहीं ?

नट : जी, श्री सिद्धि-स्वरूप-वैभव नामक ग्रन्थ के आधार पर श्री सिद्धि कुँअरिजी के चरित्र का अभिनय होने जा रहा है। काव्यों में रमणीय नाट्य साहित्य स्वयं अपनी रम्यता से सहज ही सबके चित्त को रमाने वाला होता है।

विदूषक : श्रीसिद्धि-स्वरूप-वैभव के रचयिता का नाम क्या है ? मैं उनसे परिचित होना चाहता हूँ जी।

नट : दासान्त राम हर्षण नाम से ग्रन्थकार की प्रख्याति है, विदूषक !

विदूषक : (मुँह बनाकर) छी, तब तो तुम्हारे इस नवीन नाटक को देखने के लिये लोग, संभव है किराये पर भी आना अनावश्यक ही समझेंगे क्योंकि जिन लोगों की आँखें अच्छे-अच्छे कवियों के बनाये हुये भव्य-नव्य नाटकों के देखने की आदी बन चुकी हैं, उन महाशयों को आपका अभिनय अरुचिकर न होगा, तो क्या होगा ? आदर्श-अभिनय में रसवत्ता का निर्माण करने के लिये, जिन-जिन तत्वों की आवश्यकता नाट्य-शास्त्रों में मानी गई है, वस्तुतः इसमें नहीं ही होगी।

नट : क्यों जी ? नाट्य-मंदिर में तुम्हारा यह कहना सर्वथा अनावश्यक और अनुचित है। "आनन्दमयता का रहस्य इस अभिनय की अभिनयात्मकता में सन्निहित है" जो नितान्त नास्तिकों को भी आनन्दित करने वाला सिद्ध होगा। ऐसी धृष्टता करने का कारण तुम्हारी अशिष्टता नहीं तो क्या है ? अरे भाई ! अभिनय में कथा वस्तु की उत्तमता ही एक मात्र आनन्द-विधायिनी सिद्ध होती है, वह इसमें अप्राप्य नहीं है, विदूषक जी !

विदूषक : मेरी अटपटी-वार्ता नटजी को रुचिकर नहीं लगी क्यों ? विदूषक की वाग्विसर्गता को विदुष जन ही समझते हैं। नट में तो नटपन की ही विशेषता होती है।

नट : दर्शकों तथा दृश्य-दर्शन कराने वाले अभिनेताओं के उत्साह को उन्नत न करने वाली बात भाई, तुमने कही ही क्यों ?

विदूषक : (स्वगत) सत्यता की शंका का समाधान हुये बिना असत्यता की आवृत्ति और अविरल अविश्रान्ति मानव के मन को मनहूस सतत बनाये रहती है। अस्तु, इस अभिनय के प्रकाश की किंचित ज्योति आपको सबके सामने,

उसके प्रारम्भ होने के प्रथम उपस्थित करने की प्रेरणा देने के लिये ही विदूषक के वाक्य हैं, भाई !

(प्रकट में.......) अरे भाई नट ! हमारे मौजी मनीराम ने मुख से कहा कि, तू ऐसा बोल, बस इतना कहते ही गिरा देवी गिर न पड़ी मुख में और आवधरी न ताव, बिना हमको बताये झट से बिना वस्त्र पहने हुये बाहर निकल आई, तो विदूषक बिचारा क्या करे ? आप ही बतलाइये और बिना वाणी के बोले, शीघ्र बतलाइये, साहब !

नट : (संकेत से कुछ समझाकर) अरे विदूषक ! आखिर में यह निर्णय दो कि हमारे आज के अभिनय को लोग पसन्द क्यों नहीं करेंगे ?

विदूषक : (हँसकर सभा के लोगों से) हाँ, हाँ, नट को सांकेतिक भाषा का भी कैसा भरपूर उत्तम ज्ञान है। (हाथ की अँगुलियों तथा आँखों को इधर-उधर नचाकर) ऐसे-ऐसे करके मूझे खूब समझा दिया और मैं भी खूब समझ गया क्योंकि यह विद्या मेरी पुस्तैनी है। (नट से.....)।

भाई ! इस नवीन नाट्यकी नायिका श्री सिद्धि कुंअरि हैं, जिनके नाम से सम्पूर्ण दर्शक परिचित भी न होंगे । इसलिये इस अभिनय को लोग काल्पनिक कहकर रुचि एवं रसानुभूति लेने से वंचित रह जायेंगे।

नट : मैं अपनी कानों सुनी बात कह रहा हूँ, विदूषक ! एक सज्जन ने एक साधु से भेंट होने पर पूछा कि आपका निवास स्थान कहाँ है ? और किधर से आये हैं ? सन्त ने उत्तर दिया कि मैं अयोध्या निवासी हूँ और वहीं से आ रहा हूँ। यह सुनकर सज्जन ने पुनः प्रश्न किया कि अयोध्या का नाम मैंने आज तक नहीं सुना, वह किधर और किस देश में हैं ? अब आप विचार करें कि उन महाशय की, अयोध्या ऐसी पुनीत और पुरातन नगरी की अनभिज्ञता से वेद-वर्णित अवध पुरी के माहात्म्य एवं उसके धराधाम प्रतिष्ठित होने में कोई संदेह या कोई कमी आयेगी क्या? आप जैसे अज्ञानियों के कान में यदि सिद्धि कुँअरिजी का नाम न आया हो और यह अभिनय काल्पनिक मालूम पडता हो तो कोई आपत्ति नहीं।

सावित्री, शकुन्तला, वासवदत्ता, विष्णुप्रियादि के नाम को न जानने वाले संसार में समूह-मानव हैं, तो क्या कवि, कोविद, विद्वान और बहुश्रुत जन उपर्युक्त देवियों के नाम तथा चरित्र को कभी काल्पनिक कहेंगे ? कदापि नहीं, क्योंकि श्रुति, पुराण और इतिहास इनके साक्षी हैं। हाँ, आप जैसे "अन्धों को आरसी क्या" की कहावत लागू है।

विदूषक : [हाथ जोड़कर अपराध क्षमापन का अभिनय करता हुआ] अच्छा भाई ! अपराध को क्षमा करो किन्तु कम से कम सिद्धि कुँअरिजी का सूक्ष्म परिचय कराने से मुझे वंचित न रखो।

नट : नान्दी के मुख से उनका सूक्ष्म परिचय सभा को प्राप्त हो गया होगा किन्तु आप श्री विदूषक जी महाराज को शेष है, सो सावधानी के साथ श्रवण करें। श्री सिद्धि कुँअरिजी दक्षिण में बिड़ावल नगरी के नरेश श्री श्रीधरजी महाराज की पुत्री थीं। इनका विवाह मिथिलाधिराज-निमिकुल-भूषण श्री विदेह सीरध्वजजी महाराज के कुँअर श्री लक्ष्मीनिधिजी के साथ हुआ था। ये पूर्णतम-परब्रह्मावतार-दाशरथि-राम की अत्यन्त प्रिय श्याल-वधू (सरहज) और परमाह्लादिनी-आदिशक्ति-श्री सुनैनानन्द वर्धिनी-श्री
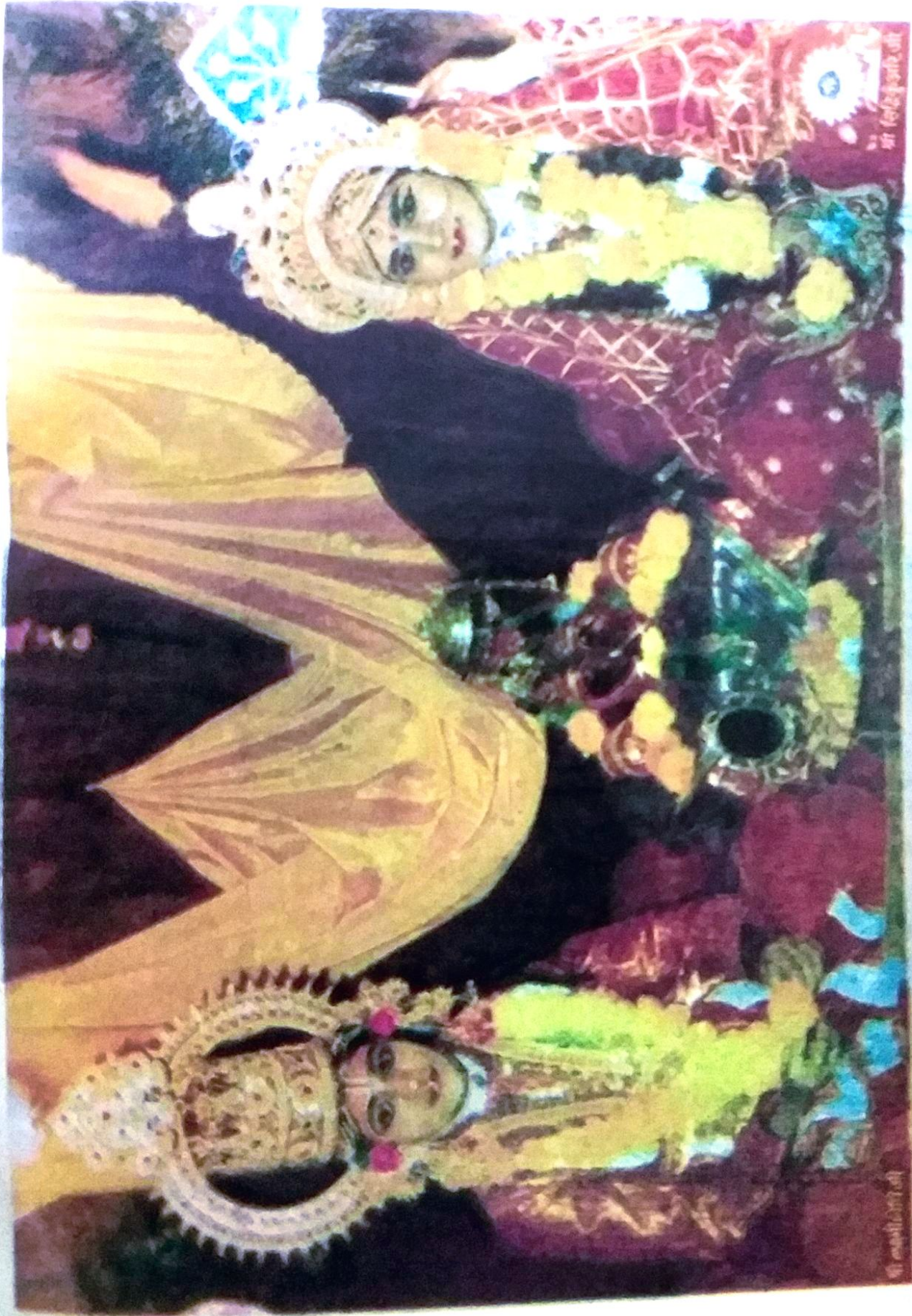
ॐ गुं गुरवे नमः

ॐ नमः सीतारामाभ्याँ

ॐ हं हनुमते नमः

अथ सिद्धि-स्वरूप-वैभव

प्रथमः दृश्यः १

[बिड़ावल - नगरी के अधीश्वर महाराज श्रीधर अपनी अर्धाङ्गिनी महारानी श्री कान्तिमतीजी के पास अत्यन्त मनोरम अन्तःपुर में विराज रहे हैं, परम प्रसन्नता की मुद्रा से निकट-प्रान्त को प्रफुल्लित करते हुये, प्रियतमा के मुखश्री का अवलोकन कर कुछ कहने की कामना कर रहे हैं।]

कान्तिमतीजी : प्राणनाथ की मधुर-मधुर मुस्कुराहट मुझ से कुछ कहने का संकेत कर रही है, कहिये, निः संकोच कहिये। क्या कहना चाहते हैं, आप ।

श्रीधरजी : आपसे छिपाने की क्षमता भी तो मुझमें नहीं है, प्रियतमे । मुझको दो अपत्य का लाभ (यशधर और कान्तिधर नामक पुत्र) आपसे हो चुका है, तीसरा निकट भविष्य में भासित हो रहा है, किन्तु आश्चर्य,आश्चर्य ! इस समय आपके मुख-मण्डल का विलक्षण तेज कुछ और ही संदेश दे रहा है। पृथ्वी, अप तेज, वायु, आकाशयुक्त दशों-दिशायें प्रसन्न-वदना-मृगनयनी की भाँति चित्त को आकर्षित कर रही है। शुभ-शकुनों का बाहुल्य तो और-और मुझे अपार आनन्दाम्भोधि की ओर बरबस लिये जा रहा है। यदि इस रहस्य के विषय में आपको अल्पमपि अधिकार एवं अभिज्ञान प्राप्त हो तो अविलम्ब मेरे कर्णों तक क्या पहुँचा सकेंगी ? अहा ! श्रवणों की समातुरता अधिक-अधिक वृद्धिगत होती हुई मुझे और-और अधीर बनाये जा रही है, प्रिये !

कान्तिमतीजी : (संकोच, विनय और शील के साथ) हृदयेश्वर से हृदय की वार्ता यथातथ्य कह देना ही तो सती-साध्वी-सन्नारियों की निर्मलता का निखार है। प्राणनाथ मेरे मन-मानस में स्वाभाविक अनन्तानन्द की अनंत-उर्मियाँ उठती रहती हैं, स्वप्न भी विष्णु के विष्णु तथा लक्ष्मी की लक्ष्मी के दर्शनादि विषयक ही प्रायः होते रहते हैं। अपनी प्रतीति है कि कोई जन्म-जाता-सिद्धा-सुपुत्री का सल्लाभ होने वाला है, जिसके कारण हम सब सच्चे-सुख-सुयश और परमार्थ को प्राप्त कर सकेंगे।

श्रीधरजी : (हर्ष से भरकर) ईश्वर कृपा करे, अपनी निर्हेतुकी दया से दया-सिन्धु अपना लाभ हम लोगों को किसी भी ब्याज से करा सकें तो कृतार्थ हो जाँय।

कान्तिमतीजी : सौम्य ! इसमें संदेह नहीं, परमात्मा का कृपा-कटाक्ष-निक्षेप हो चुका है, हम लोगों पर।

श्रीधरजी : प्रियतमे ! अपत्योत्पत्ति के प्रथम आपकी अत्यन्ताभीष्ट अभिरुचि को पूर्ण करना मेरा कर्तव्य होता है, अतएव आपके कथनानुसार आपका प्रिय करना चाहता हूँ।

कान्तिमतीजी : प्राणनाथ ! हरि-कथा श्रवण करने की कामना मेरे मन में त्वरा उत्पन्न कर रही है, अस्तु, भगवच्चरित्र की सुधा से मेरी श्रवणक्षुधा की शान्ति करने का उपाय करें, तो बड़ी कृपा होगी।

श्रीधरजी : अपने हृदय-हर्षिणी के हर्ष को बढ़ाने के लिये अभी-अभी हरि के उदार और अनुपमेय-उदात्त-चरित्रों का कीर्तन प्रारम्भ किया जा रहा है, सुभगे! आप श्रवण करें।

पद : हरि समान नहिं कोऊ देव।

अति उदार, गुण श्रेय के सागर, कोउ नहिं जानत भेव।
आरति हरण-शरण-सुखदायक, करत दास पर प्रेम।
जन को राखि मान निज छोड़त, कीन्हें अविचल नेम।
जासु नाम है भव को भेषज, और परम पद मूल।
अनुपम अतिहि उदात्त चरित सुनि, नष्ट हौंहि त्रयशूल।
रूप ध्यान बनिके तद्रूपहिं, आनन्द सिन्धु समाय।
जग कारण श्रीपति मन मोहन, हर्षण सुलभ स्वभाय।

[पुनः महाराज, महारानी को विविध भाँति से प्रसन्न कर बाहर जाते हैं]

पटाक्षेप

- - - - - - -

द्वितीयः दृश्यः २

[नैपथ्य में कोलाहल !] अनेक प्रकार के वाद्य बज रहे हैं । बन्दीगण राजा के विरद का बखान कर रहे हैं। ब्राह्मणों के मुख से मुखरित वेद-ध्वनि गगन में गूँज रही है, जय-जयकार सुनाई दे रहा है, कोकिल-बयनी कामिनियाँ सोहिल गान कर रही हैं।]

पद : सुन्दरि मधुर महान, रूप गोरी गुण की रासी रे।

श्रीधर नारि पुत्रि भल जाई, यथा सिन्धु लक्ष्मी प्रगटाई।
निरखत अखियाँ अति सुख पावहिं, रहहिं पियासी रे।।
सकल सुलक्षण सहित सुकन्या, लहि नृप-रानी भे अति धन्या।
जगत-ज्योतिषी देत प्रमाणहि, मुख ते भाषी रे।।
राजसदन जन्मोत्सव छायो, पंचधुनी श्रवणन सुखदायो।
विविध वाद्य ते बजत बधावहु, प्रेम प्रकाशी रे।।
विप्रन दान विविध विधि पाये, धेनु-वसन-मणिगन मन भाये।।
मागध-सूत-बन्दि, गुण-गायक, दासहु-दासी रे।।
उड़त अबीर-गुलाल अकाशा, दधि की कीच मही महँ भासा।
नृत्य करहिं नव नारी हर्षण, आनन्द आसी रे।।

[भाँड़-विदूषक स्वाँग कर रहे हैं, जन्मोत्सव विविध प्रकार से मनाया जा रहा है । पंच ध्वनि हो रही है। विप्रगण दान-मान से सम्मानित होकर आशीर्वाद दे रहे हैं।]

पटाक्षेप

तृतीयः दृश्य : ३

[नैपथ्य में बारहों-उत्सव की विविध तैयारियाँ एवं पंच ध्वनियाँ हो रही हैं, तज्जनितं शोर-गुल हो रहा है।]

पद : बरहों दिवस लली को आज।
गुरु बोलाय कुल-कृत्य करावहु, पूजहु सुरन समाज।
नामकरण आचार्य मुखहिं ते, होय यथार्थ अवाज।
दान-मान दै विप्रन तोषहु, महाभोज भल भ्राज।
हर्षण हो उत्सव सर्वाङ्गहिं रहै पंच ध्वनि गाज।

मंत्री : (विनय-युक्त वाणी में) महाराज के भाग्य से श्री याज्ञवल्क्यजी महाराज, जो ब्रह्मलीन, ब्रह्म-विद-वरिष्ठ, महायोगेश्वर, त्रिकालज्ञ, ज्ञान स्वरूप, ज्ञानी मुनि हैं, जिनके प्रसाद से सम्पूर्ण मैथिल राजा आत्मविशारद होते चले आ रहे हैं, वे ही ऋषि-प्रवर वर्तमान समय में आपके आतिथ्य सत्कार को स्वीकार कर रहे हैं अस्तु, अपनी अभिरुचि है कि उन्हीं के श्री मुख से आपकी लाड़िली जू का नामकरण-संस्कार होना चाहिये। श्रीमान् की परम प्रसन्नता हो तो, उन्हें अन्तःपुर पधारने के लिये आमन्त्रित किया जाय।

श्रीधरजी : मन्त्रीजी ! आपका विशद-विचार मेरे अन्तहृदय के अनुसार ही है। पुरोहितजी के द्वारा श्री याज्ञवल्क्यजी महाराज को उनके निवास स्थान से सादर सम्मानपूर्वक यहाँ बुलाने की आप चेष्टा करें।

मंत्री : जी महाराज ! आप श्री के अनुशासन की देरी थी, मै स्वयं अविलम्ब-समुचित-व्यवस्था के साथ महल में पधारने के लिये निमिकुल-गुरु से प्रार्थना करने अपने पुरोहितजी के साथ जा रहा हूँ।

[मन्त्रीजी, श्री याज्ञवल्क्यजी को सशिष्य बुलाकर राजमहल में प्रवेश करा रहे हैं। पंच ध्वनि हो रही है।]

प्रतिहारी : महाराज बिडावल-नरेश के जीवन की जयजयकार हो । श्री निमिकुल के कल्याणकारी सद्गुरु श्री याज्ञवल्क्यजी महाराज आपके अभीष्ट सिद्धि के लिये महल में पधार रहे हैं।

[श्रीधरजी महाराज, आनन्द में भरकर समाज सहित सादर अगुआनी करने जाते है। सप्रेम साष्टाङ्ग प्रणिपात कर सविनय अन्तःपुर में लाकर मुनिराज का आसनादि षोडशोपचार से पूजन करते हैं।]

श्रीधरजी : आज मेरे भाग्य का सितारा चमक गया। धराधाम में धन्यातिधन्य हो गया, सर्वस्व पा गया, कृतकृत्य हो गया। अहा! निमिकुल-नरेशों के आत्म-कमल

को विकसित करने वाले सूर्य का दर्शन मुझे अपने सदन में सहज ही सुलभ हो रहा है। मुनिवरआज मेरी पुत्री का बारहों उत्सव होने जा रहा है, उसके नामकरण संस्कार कराने के लिये ही आप श्री को यहाँ पधारने का कष्ट दास ने दिया है। धृष्टता को क्षमा करेंगे, नाथ।

श्रीयाज्ञवल्क्यजी : महाराज श्रीधर ! मुझे कोई क्लेश नहीं, आप ऐसे परमार्थ -पथ के पथिकों को पथ-प्रदर्शन कराना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। आनन्द, आनन्द, हर समय, हर ओर आनन्द!

[दासियों से समावृत महारानीजी, पुत्री को गोद मे लिये हुये श्री याज्ञवल्क्य गुरुदेवजी के श्री चरणों में प्रणाम करती हैं।]

श्रीधरजी : महर्षे ! यही पुत्री है, जो आप श्री के चरणों के तले उसकी माता के द्वारा डाल दी गई है।

श्रीयाज्ञवल्क्यजी : (मुस्कुराकर शिर-स्पर्श करते हुये मन ही मन आशीर्वाद देते हैं। क्षणिक ध्यान के पश्चात् प्रेम-पूर्ण दृष्टि से श्रीधर-सुता का पुनः अवलोकन करके प्रसन्नता से भर जाते हैं।) महाराज ! आपकी बालिका स्वयं सिद्ध-पद प्राप्त सिद्धि स्वरूपा है, अस्तु, इसका नाम सिद्धा अर्थात सिद्धि कुँअरि है। यह अपने पति को परम प्यारी, पतिव्रत-धर्म को धारण करने वाली, परमार्थ-पथ में परम प्रवीणा और परमेश्वर में परमा-प्रीति प्राप्त करने वाली होगी। कहाँ तक कहूँ ? कालान्तर में गुरु-गौरव को संप्रवर्धन करने वाली, मेरी शिष्य-वधू होगी।

[सुनकर महारानी और महाराज हर्ष में भरकर ऋषिराज को पुनः पुनः स्तुति-प्रणाम करके बहुत से गो-धन के साथ अन्य धन-धान्य देकर विदा करते हैं।]

पटाक्षेप

- - - - - - -

चतुर्थ : दृश्य : ४

[श्रीसिद्धि कुँअरिजी अपनी सखी-सहेलियों के साथ खेल रही हैं। खेल में पुतली-पुतला का ब्याह संपादन हो रहा है।]

सहेलियों का समवेत गान :

पद : पुतली रानी हमारी कैसी बनी।
नख-शिख ते श्रृंगार किये हैं, दुलहिन वेष अनूप जनी ।
रूप शील गुण की उजियारी, भक्ति भावना प्रेम पनी ।
दुलहा राजा के अनुरूपहिं, सब विधि साज सम्हार ठनी ।
चमक-दमक मंडप में दोऊ, कर रहे सुख के सिन्धु सनी ।
मंगल-गान नारि गन गावहिं, विप्र-बन्दि श्रुति विरद भनी ।
बाजे बजत अनेकन द्वारे, होत ब्याह की कृत्य गनी ।
हर्षण हर्ष भरी सब सखियाँ, सिद्धिहिं रिझवहिं प्रीति घनी ।

[ब्याह-केलि से विरत होने पर बाल-केलि रीत्यानुसार चित्रा नाम की सखी सिद्धि कुँअरिजी से प्रश्न करती है।]

चित्रा : श्री राजकुमारीजू! गुड्डा – गुड़िया की तरह क्या हम सबका भी एक दिन सुन्दर वर के साथ विवाह होगा? बरात सब सौंज के साथ सजकर आयेगी? भाँति–भाँति के बाजा बजेंगे और मैया अपनी सखी–सहेलियों को लेकर मंगल गायेगी न ?

श्रीसिद्धिजी : हाँ, हाँ, चित्रे ! अवश्य, हम लोगों को भी अपनी भाभीजी की तरह एक न एक दिन श्वसुर–गृह का दर्शन करना ही होगा। मैंने अपनी मैया के मुख से एक दिन सुना था कि मैं अपनी लाड़िली का ब्याह अच्छे राजा के लाड़िले–लाल से करूँगी मैंने पूछा, अम्बे ! ब्याह किसे कहते हैं ? वह कैसे होता है? माता ने उत्तर दिया कि बाजे–गाजे से संयुक्त सज–धजकर बड़े बनाव के साथ बरियात आती है, वर के हाथ में कन्या का पाणिग्रहण माता–पिता के द्वारा करा दिया जाता है, इसके पश्चात् दुलहा बरातियों के साथ दर्शनीय–दुलहिन को लेकर अपने घर चला जाता है। मैंने पूछा कि मुझे भी तुम्हें छोड़कर श्वसुर–गृह जाना होगा क्या ? जननी ने कहा, "हाँ हाँ तुमको भी जाना होगा", सुनकर मैं खूब रोने लगी, विरह ने धर दबाया, मैया ने समझाया, कि जब बड़ी होगी, तब तुम्हारा विवाह करूँगी, अभी नहीं । तुम्हारे साथ बहुत से दासी–दास जायेंगे। श्वसुर–गृह में बड़ा सुख होगा। तुम्हारे भैया तुरन्त जाकर तुम्हें लिवा लायेंगे। मैं अपनी लाड़िली के बिना कभी रह नहीं सकती । देखो तुम्हारी भाभी भी तो इसी तरह विवाह करके यहाँ आई हैं और अपने माता–पिता के घर भी जब तब जाती रहती है, सुनकर मन को कुछ धैर्य हुआ। सहेली! तुम्हारे विवाह में हम खूब मंगल गायेंगी।

चित्राजी : (सनम्र, संकोच और मुस्कान के साथ) कहिये श्रीराजकिशोरीजू ! आपके मन में कैसे वर के पाने की कामना उठती है। हम आपकी सहेली हैं, सत्य–सत्य बतलाने की कृपा करेंगी? रहस्यमयी वार्ता ही तो हम सब को परस्पर प्रेम–रज्जु में बाँधने वाली सिद्ध होती है अतएव हमें आपस में संकोच का अवसर आने देना अयोग्य ही है।

श्रीसिद्धिजी : अपनी प्राण–प्रियतरी–सखियों से कुछ भी छिपाने की सामर्थ्य अपने में नही पाती हूँ, आली ! चाहे वार्ता, गुह्यतम ही क्यों न हो।

[सलज्ज नीचे की ओर देखती हुई, कर-कमल से पृथ्वी में कुछ लिखती हुई सी......]

पद : भक्ति को भवन, दोष को दवन, भूप को सुवन जोई चित चोर हे।
राम में रमण, करे प्रति प्रतिक्षण, कीन्हें प्रेम प्रण, प्रेमी रस बोर हे।
ज्ञान को अयन, योग को नयन, विरति को छयन, चन्द्रहु ते गोर हे।
सन्त कैसो मन, गुणन कोषगन, विष्णु को स्वजन, चाहौं छल छोर हे।
हर्ष को नँदन, शोभ को सदन, मदन को मदन, सुन्दर श्री किशोर हे।
जीव को जीवन, प्रेम को पीवन, देह को दीवन, सोई पति मोर हे।

अरी चित्रे ! मुझे तो क्षात्र–धर्म–निष्णात, परम–पराक्रमी–पंच वीर–विख्यात, भक्ति–भावना से भावित, भागवद्धर्म–धुरंधर, परम–भागवत के भवन में ही बसना, विशुद्ध और प्रियकर प्रतीत होता है ! मेरी आत्मा उपर्युक्त शीलादिशुभ–लक्षणों से संयुक्त, सर्वश्रेष्ठ सुन्दर राजकुमार को ही वरण करना चाहती है। मैंने अपने हृदय को तुम्हारे सामने खोलकर रख दिया है, भविष्य तो भगवान ही जानते हैं।

चित्राजी : श्री नृपति नन्दिनी जू! आप तो जगदेक-सुन्दरी-अगर्ह-गुण आगरी, नवल-नागरी हैं, आपका पाणि-ग्रहण तो साक्षात हरि भगवान के करने योग्य है।

श्रीसिद्धिजी : न, न, चित्रे ! भगवत से भागवत-सम्बन्ध ही सर्वश्रेष्ठ है। बिना भागवत-सम्बन्ध के भगवान किसी को स्वीकार करने की कभी कामना ही नहीं करते, अस्तु, भागवत-सम्बन्ध अत्यन्त आवश्यक और अनिवार्य है।

चित्राजी : हे महाराज-नन्दिनी जू! भागवतों में क्या वैचित्र्य और वैलक्षण्य है, श्रवणातुर मेरे प्यासे कर्णों की पिपासा श्रान्त करने के लिये, कृपा-सुधा की बिन्दु-वर्षा सकेंगी क्या ?

श्रीसिद्धिजी : मेरी आली !भागवतों के विशुद्ध एवं विपुल वैभव को स्वयं सर्वज्ञ श्रीपति भगवान जानते तो हैं किन्तु वे सर्व-समर्थ होते हुये भी कहकर किंचित ही कह पाते हैं। जब इयत्ता का अन्वेषण अनंत भी नहीं कर पाते, तो मैं अबोधता की साकार-मूर्ति-बालिका क्या कह सकती हूँ ? सखी ! भगवान में तदाकार होने से उनके गुण-गणार्णव एवं रूप-माधुरी का मधुरतम अनुभव एवं तज्जनित आनन्द अप्राप्य ही रहता है, क्योंकि पंकज अपने पंकज-श्री का स्वयं अनुभव नहीं कर पाता, किन्तु मकरन्द का लोभीमुग्ध-मधुप, भली-भाँति उसका आस्वाद लेना जानता है। उसी प्रकार श्रीपति भगवान भी अपने रूपौदार्य के साथ अपनी गुण-गण निलयता का अनुभव एक रस रहने के नाते स्वयं नहीं कर पाते किन्तु उनके भक्तजन अपने भगवान का पूर्ण अनुभव करते हैं, इससे भागवत सम्बन्ध एवं तदाकारिता ही भगवदनुभवं एवं तज्जनित, अखण्डानन्दैक रस की अनुपमेय अनुभूति का मुख्य हेतु है। अरी चित्रे ! भक्त न हो तो भगवान को कौन जाने ? सेवक न हो तो, स्वामी को स्वामी कौन कहे ! केवल भगवत-सम्बन्ध से भगवान का तात्विक प्रेम-रहस्य समझा नहीं जा सकता किन्तु भागवत-सम्बन्ध से वह सरलतया, सर्वभावेन जाना जा सकता है। भगवद्दर्शन एवं भगवत्कृपा का पूर्ण फल है, भागवद्दर्शन तथा भागवत-सम्बन्ध ! भगवत-प्रेम का पर्यवसान भी भागवत-प्रेम में ही है। मैं ही नहीं कहती केवल, श्रुतियों-शास्त्रों और संतों का समवेत कथन है।

भक्त और भगवान में यद्यपि सदा भेद का अभाव है, तो भी भागवत-वैभव की महत्ता समझकर, मुझे भागवत-सम्बन्ध ही अधिक रुचिकर प्रतीत होता है। भगवान और भक्त के अनुभव जनित आनन्द में भी यद्यपि कोई अन्तर नहीं है, फिर भी भक्त में भगवान का अनुभव तो सहज ही हो जाता है किन्तु भगवान में भक्त का अनुसंधान नहीं हो पाता, अस्तु परम भागवत का सम्प्रयोग ही चाहिये मुझे, उनकी होकर, उन्हीं के साथ-साथ भगवदनुभव प्रियकर है, चित्रे!

पद : आली मोहीं नीको लगै प्रभु प्रेमी।
जनम-जनम की मैं तो उनकी, अटल अहै यह नेमी।
अर्पित अहै आत्मा त्रिकरण, जेहि को त्रिसत त्रिकाला।
सो जनमें कहुँ भूप कुँअर बनि, रसप्रद रसिक रसाला।
राम-प्रेम मूरति जनु भावत, स्वपने लखी री चित्रा।
चित ते सो नहिं टरत हैं टारे, सुन्दरि रहनि पवित्रा।

रूप-शील-गुण गरू- मधुरिमा, मन्मथ-मन्मथ आली।
हर्षण जनु हरि ही तन धारे, मुसुकनि मोहनि डाली।

.......सखी !कोई कनकोज्वल-कमनीय कान्ति संयुक्त-कोमल-स्वभाव वाला साकेत-वासी भगवान का अन्तरंग सखा ही मेरा वरण करेगा, ऐसा मुझे महा विश्वास है।

[सुनकर सभी सहेलियों के साथ चित्राजी का प्रसन्न होकर गायन करते हुये, अपने को कृतकृत्य मानना ।]

चित्राजी का सखियों समेत गान :

पद : चिरजीवैं हमारी श्री ललित लली।
श्रीधर-तिया-कुक्षि शुचि सरसी, जेहि ते उपजी कमल-कली ।
भगवद्भाव भरी मकरन्दहिं, रसिक भ्रमर कोउ पियै भली ।
रूप शील-गुण-ज्ञान उजागरि, योगिनि प्रेम की मूर्ति ढली ।।
तेहि अनुरूप दिहेउ वर विधिना, विनय करहिं कर जोरि अली ।
जेहिते अमृत आनन्द चाखैं, सिद्धि कुँअरि रस रंग थली ।।
त्रिभुवन बीच विराजित जोरी, कीर्ति चन्द्र उग गली गली ।
हर्षण हमहुँ भाग गुनि आपन, निरखहिं नयनन प्रेम पली ।।

पटाक्षेप

पंचमः दृश्यः ५

[नैपथ्य में हरि-कीर्तन के साथ मधुर-मधुर मन-मोहिनी-वीणा की आवाज आ रही है, लगता है कोई आकाश-मार्ग से उतरकर भूमि-पथ का अनुसरण कर रहा है।]

श्रीमन्नारायण, नारायण, नारायण, सरयू तीर अयोध्या नगरी परब्रह्म अवतारायण।
चक्रवर्ति दशरथ के आँगन, राम रूप ते चारायण।
तैसहिं तिरहुत भूमि ते प्रकटीं, आदि-शक्ति दुख दारायण।
हर्षण जनक-सुनैना लालत, प्रेम-पंथ व्रत पारायण।

[श्रीधर महाराज बाहर सभा-भवन में मंत्रियों के साथ विराजे हुये हैं। कर्ण-पुटों में बीणा की झनकार, झंकृत होते ही चौकन्ने होकर इधर-उधर देखन लगते हैं।]

श्रीधरजी : (स्वगत) हैं... यह किसकी मधुर ध्वनि है, बरबस चित्त को आकर्षित कर रही है, ब्रह्म-स्वर-विभूषित देवर्षि की वीणा सी बज रही है। (हर्ष से भरकर) हाँ, हाँ, वह ... वह सामने देवर्षि श्री नारद जी महाराज के दर्शन हो रहे हैं (सभा के साथ उठकर अभिवन्दन के बाद आसनादि से षोड़शोपचार पूजन करते हैं।)

श्रीधरजी : देवर्षे ! आप स्वयं आनन्द-स्वरूप हैं, स्वयंभू-सुत के विषय में कुशलता का प्रश्न ही कैसा ? महर्षे ! मैं धन्य हो गया, मेरे घर त्रिपथगा की धारा स्वयं मुझे पवित्र करने के लिये आ गई मुने ! पुनः पुनः शतशः प्रणाम है।

[श्री कान्तिमतीजी का बालिका श्रीसिद्धि सहित प्रवेश एवं श्री नारद जी के चरणों में सादर अभिवन्दन]

नारदजी : महाराज ! ये कौन मुझे प्रणाम कर रही है ?

श्रीधरजी : दास की धर्मपत्नी और पुत्री हैं, महाराज ।

नारदजी : चिरंजीवि बेटी, चिरंजीवि। तेरी अक्षय-कीर्ति अमर हो और दसों-दिशाओं को व्याप्त करती हुई ब्रह्माण्ड को भेदन कर जाय, पातिव्रत-धर्म में परम प्रवीणा तथा भगवद्धर्म में निष्णात परम भागवता हो। योग की सिद्धियाँ तो तुम्हें जन्म से ही संप्राप्त हैं। आत्म विशारदत्व का प्रमाणपत्र पाने वाले कुल की वधू होगी। जा, मेरा आशीर्वाद है, तेरे प्रेम से विवश होकर स्वयं पूर्णतम परब्रह्म,अपनी शक्ति समेत तुझ पर रीझा रहेगा।

[माता के संकेत से सहेलियों के साथ सिद्धिजी देवर्षि को प्रणाम कर गृह-वाटिका-विहार करने चली जाती हैं। राजा श्रीधर व उनकी धर्मपत्नी श्री नारदजी के समीप बैठे हैं।]

श्रीधरजी : भगवन ! दास के भाग्य से ही आप श्री आज इधर आ गये हैं, आपके वचन सदा शुचि और सत्य होते आये हैं। अस्तु, बालिका के लिये अपनी प्रसन्नता से दिया गया आशिर्वचन अक्षरशः सत्य होगा, मुझे यह पूर्ण प्रतीति है, मुने ! किन्तु कन्या के विवाह-सम्पादन करने की अवस्था द्रुत-गति से मेरे सामने प्रत्यक्ष होने को आ रही है, अभी तक आपके वचनानुकूल किसी योग्य घराने में उत्पन्न वर का मन से भी चिन्तन न कर पाया। क्या महाराज श्री, इस पुण्य कार्य की शीघ्र सिद्धि के लिये अपने दीन दास को प्रेरणा देने की कृपा करेंगे ?

नारदजी : महाराज ! अभी अभी मैं महाराज मिथि की बसाई हुई मिथिला नगरी से आ रहा हूँ। अहो ! क्या कहना है, इस समय वहाँ के वर्तमान नरेश श्री सीरध्वजजी महाराज को। वाह, वाह। मानों ब्रह्म स्थिति ही राजा जनक के रूप में साकार दृष्टि गोचर हो रही है। भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और योग में जिन्हें सहज अधिकार संप्राप्त है। वैभव के विषय में कहना ही क्या ? वे क्षात्र-धर्म-निष्णात, शस्त्रास्त्र-वेत्ता महापराक्रमी हैं। बड़े-बड़े महाराजाओं के मुकुट उनके पाद पीठ में भाव मग्न मिलते रहते हैं। उनके सीता नाम्नी एक कन्या है, जिसे तत्वदर्शी मुनि उमा, रमा, ब्रह्माणि-वन्दिता साक्षात् महालक्ष्मी बतलाते हैं। वह गुण, रूप सुकृत शील और सुयश में तदनुरूप ही हैं। उन मैथिल नरेश को उनके अनुरूप एक सुपुत्र का भी लाभ ब्रह्मा ने दिया है। पुत्र, पुत्री से जेष्ठ है, और अपने "लक्ष्मी निधि" नाम के अनुसार अत्युत्तम हैं तथा क्षात्र-धर्म-निष्णात महापराक्रमी वीर है। उसमें रूप,गुण तो अप्रतिम हैं ही, भक्ति, ज्ञान वैराग्य की भी वह साक्षात प्रतिमा है।राजन! मिथिलेश कुमार अपनी देह सम्पत्ति एवं गुण-वैभव से सभी के चित्त को आकर्षित करने वाला है। मैं तो उसके शील स्वभाव तथा भगवद्भागवतानुराग पर रीझ सा गया हूँ। मालूम होता है भगवद्रस मूर्तिमान होकर धराधाम के नेत्रों का विषय बन रहा है। अधिक क्या कहूँ, आपकी पुत्री के अनुरूप वही योग्य वर है। महाराज ! आप उपाय करें, संभवतः भावी साथ दे जाये।

श्रीधरजी : देवर्षि की कृपा पर ही सब निर्भर है, किंकर का उपाय तो अपाय के समान ही होगा, भगवन !

नारदजी : अच्छा महाराज ! मैं अधिक समय तक ठहरने की सामर्थ्य नहीं रखता, अब मुझे विदा दीजिये।

[महाराज व उनकी धर्मपत्नी मुनि को प्रणाम करते हैं। श्रीनारद जी "आयुष्मन राजन" कहकर अदृश्य-मार्ग से प्रस्थान करते हैं। केवल हरि-कीर्तन कर्ण-पुटों में प्रवेश करता हुआ, कुछ काल में क्रमशः शान्त-भाव को प्राप्त हो जाता है।]

पटाक्षेप

षष्ठः दृश्यः ६

[श्री सिद्धि कुँअरिजी अपनी माता तथा सखियों के मुख से श्री मिथिलेश कुमार लक्ष्मीनिधिजी की प्रशंसा श्री नारद मुनि से कही हुई श्रवण करने के साथ ही हृदय से, उन्हीं को अपना पति वरण कर, पूर्व राग में रंग जाती हैं। आदि-शक्ति महालक्ष्मी की उपासना मनोभिलषित पति-प्राप्त्यर्थ करने लगती हैं। कभी-कभी एकान्त में विरह-वेदना से भर जाया करती हैं, अहर्निशि उनके हृदय-गगन में निमिकुल-कुँअर की चन्द्र-चन्द्रिका उदित रहती है।]

(आज सिद्धिजी एकान्त में बैठी हुई कुँअर लक्ष्मीनिधिजी का स्मरण कर करके मिलने की त्वरा में आकर आहें भरती हुई छटपटा रही हैं।)

पद : चैन न पावत प्राण हमारे।

तड़फड़ात या घायल जियरा, बिरहा के लागे बाण हमारे।

प्रियतम भेंट कबहिं धौं होई, स्वप्न मिले जो आन हमारे।

राग रंग कछु मनहिं न भावै, भूखहुँ प्यास भुलान हमारे।

हर्षण हाय कटै नहिं दिन ये, गृह-सुख मन न सोहान हमारे।

[पद समाप्ति के अनन्तर खोज करती हुई, उनकी छोटी बहन नन्दा सखियों के साथ समीप पहुँच जाती है। अपनी अग्रजा की विरहाकुल दशा देखते ही घबराई हुई सी वाणी में बोलती हैं......]

नन्दा : जीजी ! आप यहाँ एकान्त में किसका ध्यान व स्मरण कर रही हैं ? आपके श्री अंग विरह-वर्धित-वेदना से प्रपीड़ित दिखाई दे रहे हैं। कहिये, क्या बात है? हम सब बहनों के साथ ये समस्त सखी-सहेलियाँ, आपकी प्रसन्नता ही में परम प्रसन्न रहा करती हैं। आपके अविकसित-मलिन-मुखाम्भोज को देखने की सामर्थ्य आपकी अनुचरियों में अकिञ्चित हैं।

श्रीसिद्धिजी : (प्यार से स्पर्श कर) अनुजे ! कुछ नहीं है, मैं स्वभाव से स्वस्थ यहाँ बैठी हूँ। तुम सखियों सहित जाओ, माँ पुकारती होंगी न ?

नन्दा : (अश्रुभर कर) नहीं... नहीं जीजी ! आपको अपने मन की वार्ता बतलानी ही होगी अन्यथा हम सब अधीरता से आवृत्त होकर क्लेश भाजना बनेंगी, जिससे आपको अपने सौजन्य एवं हार्दानुग्रह के वशीभूत होकर अधिक अशान्ति की अनुभूति करनी पड़ेगी।

श्रीसिद्धिजी : (आकाश की ओर दृष्टिपात कर, संकोच–सहित अश्रुपूर्ण–नेत्रों से) अनुजे, अवश्य ! अवश्य ही, मेरे स्मरण का विषय नारदादि ऋषियों से प्रशंसित एक राजकुमार बन गया है। क्या करूँ बहन......

पद : धीरज दुरि गयो मोरे मन ते।

जब ते सुनी मिथिलेश कुँअर की, कथा मधुर मधु मुख मुनियन ते।
चन्द्रकीर्ति गुण गेह गौर तन, मन को मोहक मदन मदन ते।
भक्ति ज्ञान वैराग सहज ही, बसे आइ निकसत नहिं तन ते।
परम भागवत – धर्म परायण, प्रेम चुअ अंग अंग अँखियन ते।
क्षात्र धर्म – निष्णात वीर वर, पीठ न देवत समर अँगन ते।
शील स्वभाव सहज सुखदायक, सेवित सेवक अनुज सखन ते।
आदि शक्ति बनि अनुजा जेहि के, अंकहि क्रीड़ति चित्त चयन ते।
हरि – गुरु – संत कृपा – अधिकारी, हर्षण क्षणहु न जाय नयन ते।

अनुजे ! क्या करूँ, समझाने से भी तो मन नहीं समझता, लज्जा कुछ सहायता करती है किन्तु वह भी ऊपर ही ऊपर। अन्तःकरण में राजकुँअर के प्रति राग की ज्वाला जलाये ही डालती है।

पद : सजनी ! समुझाये नहिं समुझ परै।

प्रेम के बाण लगै उर अन्तर, नहिं मन धीर धरै।
स्वपने मिले मिथिलेश कुँअर मोहिं, पकड़ेहु पानि अरे।
दियो सांत्वना मधुर वचन कहि, लिय लपटाय गरे।
कब सो सपन सत्य सत होइहिं, परिणय आय करे।
केहि से कहौं मनहि की बतियाँ, विरह की वह्नि जरे।
पितु अधीन पुत्री जेहि देवै, हौं नहिं स्ववश वरे।
हर्षण लक्ष्मी निधि बिनु सिद्धी, शुष्क शरीर मरे।

भद्रा : जीजी ! अचिन्त्य– परमाह्लादिनी–अनादि–शक्ति की उपासना सर्व–श्रेय–प्रदात्री होती है, यह बात अम्माजी की कही हुई कह रही हूँ। वे भगवती अवश्य आपको अभीष्ट वर देकर स्वयं दर्शन देने का सुखद संयोग करेंगी। आप चिन्ता की चिता में जलने से अपने आपको बचायें।

नन्दा : देखिये...देखिये न ! कितने शुभ–शकुन दिखाई दे रहे हैं। आपका सुभग बायाँ अंग भी बार–बार फड़क रहा है, जीजी। हम लोगों के हृदय में भी हर्ष की हिलोरें पुनः पुनः उठ रही हैं। अस्तु, अपने विश्वास का बाहुल्य आपका मधुर–मनोरथ अवश्य पूर्ण करेगा।

पूर्णा : मैंने स्वयं स्वप्न में जीजी का विवाह श्री मिथिलेश कुमार के साथ बड़े धूम–धाम से होते देखा है। स्वप्न के सत्यासत्य जानने में अधिकार रखने वाली, अपनी धाय से मैंने पूछा तो उन्होंने कहा कि यह स्वप्न भविष्य में सत्य होकर रहेगा।

चित्रा : बड़े भैया श्री यशधरजी, छोटे भैया श्री कान्तिधरजी से बात कह रहे थे। मैंने उनके मुख से सुना है कि दाऊजी महाराज कई प्रभावशाली प्रभृति विद्वान ब्राह्मणों को

विश्वविश्रुता-विदेहपुरी भेजे हैं। विप्रों के वहाँ जाने का एक मात्र प्रयोजन कुँअर लक्ष्मीनिधिजी के साथ आपके विवाह विषयक बातचीत करने का है।

श्रीसिद्धिजी : निमिकुल-नरेश कितने महान हैं, चित्रे ! किस प्रकार से प्रतीति करूँ कि वे मेरे पिताजी की प्रार्थना स्वीकार ही कर लेंगे।

चित्रा : श्री महाराज नन्दिनी जू ! जिनकी आप उपासना करती हैं, वे श्री भगवती महालक्ष्मी जू घट-घट में निवास करने वाली सर्व समर्थ हैं। आपके पूजन से प्रसन्न होकर विदेहजी महाराज को अपने कुँअर का ब्याह आपके साथ करने को अवश्य प्रेरित करेंगी; इस प्रतीति का परित्याग भूलकर भी आप को नहीं करना चाहिए।

भद्रा : मैया के मुख से किसी ऋषि या किसी अन्य की कही हुई वार्ता मैंने सुनी है कि श्री नारदजी के मुख से आपकी कमनीय-कीर्ति श्रवण कर श्री मिथिलेश कुमार का चित्त-चञ्चरीक आपके मुखाम्भोज-मकरन्द का आस्वाद लेने के लिये लालायित और उद्विग्न हो उठा है। आपकी अत्युत्तम गुण-गणावली व भागवद्धर्माविलम्बिनी-सुन्दर-रहनी से संयुक्त भगवद्भक्ति एवं ज्ञान-वैराग-योग की सहज स्थिति के साथ आपका रूपौदार्य उनके मन को मथकर आपकी ओर बरबस आकर्षित कर रहा है, जीजी !

श्रीसिद्धिजी : बस... बस, अब बहुत हो चुका, भद्रे ! मिथ्या बडाई मत करो। आर्य श्री मिथिलेश कुमार के योग्य, योग्यता मुझ अनार्या में किसी विषय में नहीं है। उन महाभागवत कुमार की अहैतुकी कृपा ही उनकी प्राप्ति का उपाय है। मैं तो उनकी दासी बन जाने में ही अपना परम सौभाग्य समझती हूँ।

चित्रा : हे नृपति-नन्दिनी जू ! क्षमा करें, आप सब प्रकार से नृपतिनन्दन जू के अनुरूप हैं और वे सर्वथा आपके अनुरूप हैं। आपकी केवल संगीत-लहरी, हरि-कथामृत को लेकर जिस समय वींणा या वंशी की झनकार के साथ राजकुमार के कर्णरन्ध्रों में प्रवेश करेगी, उस समय वे कथाहारी महाभागवत आपको आलिंगन कर अपने हृदय से अलग करने में कभी भी समर्थ न हो सकेंगे किं पुनः आपके आत्मगुणों के विषय का स्मरण करके.....!

श्रीसिद्धिजी : (सुनकर संकोच के साथ शिर नत करके) तुम लोग मुझे यहाँ न बैठने दोगी, अच्छा चलें, मैया के महल को।

[सर्व सखियों समेत सिद्धिजी का मातृ-महल की ओर प्रस्थान]

पटाक्षेप

- - - - - - -

सप्तमः दृश्य : ७

[श्री विदेहजी महाराज की स्वीकृति पाकर श्री श्रीधरजी महाराज तिलक, फलदान भेजते हैं। दोनों ओर विवाह की तैयारियाँ विविध प्रकार से होने लगीं, शुभ लग्न में बड़े धूमधाम से बनाव के साथ बारात का बिड़ावल नगर में प्रवेश हुआ, घरात की ओर से बारात की अगुआनी की गई। दोनों ओर वाद्यों के झनकार से भूमि और गगन गूँज उठा, पंच-ध्वनि होने लगी। मंगल गान के साथ, द्वार-चार होने जा रहा है।]

मोदिनी : महारानी कान्तिमतीजी जू ! सिद्धि के सुन्दर सौभाग्य की कितनी भी प्रशंसा की जाय, वह किंचित ही होगी। अहा ... त्रिभुवन-मनमोहन मधुर-मधुर कैसा अनुपम जमाई मिला है, आपको। नयनवन्त अपने लोचन-लाभ को प्राप्त कर अपनेपन के ज्ञान से बिना साधन के मुक्त हो रहे हैं, आश्चर्य ! आश्चर्य !

रानी कान्तिमतीजी : सखी !पूर्वजों, देवी-देवताओं और अपने इष्टदेव लक्ष्मी-नारायण की अहैतुकी कृपा का यह परिणाम है अन्यथा अपने सुकृत ऐसे कहाँ, आली !

पुरोहितानीजी : महारानी जू ! सखियों समेत सिद्धि कुँअरि को सुसज्जित कर अब दरवाजे पर ले चलैं, वर के गले में पुष्प-माला पहनाने के लिये।

रानी कान्तिमतीजी : अच्छा ! पुरोहितानीजू ! अविलम्ब आपकी आज्ञा का अनुवर्तन करती हूँ, मैं। हाँ, आपका अमोघ आशीर्वाद, अपनी सिद्धा को अवश्य प्राप्त होना चाहिए।

[मंगल गीत गाती हुई सखियों के साथ, चन्द्रवदना श्री सिद्धि कुँअरिजी द्वार पर जाकर श्री कुँअर लक्ष्मीनिधिजी के गले में ज्यों ही पुष्प-हार पहनाती हैं त्योंही नर-नारियों की भीड़ के द्वारा जय-जयकार की ध्वनि के साथ-साथ विपुल-पुष्पों की वर्षा होने लगती है। एक नजर संकोच के साथ मिथिला के युवराज का दर्शन कर श्री सिद्धि कुँअरिजी कृत-कृत्य हो जाती हैं। द्वारचार की क्रिया मंगल-गीतों तथा वाद्यों के साथ हो रही है।]

पद : धनि मिथिलेश - कुमार नवल बनरा बनि आयो रे ।
मिथिलापुर ते आइ, बिड़ावल छबि छहरायो रे ।।
जनु शत-शशि को सार, खींचि विधि वरहिं बनायो रे ।
रूप मदन-मद-गार, सबहिं को चित्त चोरायो रे ।।
जामा जरकसि पीत, करहिं कंक्कण भल भायो रे ।
सोहत मणि को मौर, सिरहिं सेहरा झमकायो रे ।।
अहै गुणन उजियार, प्रेम की मूर्ति सोहायो रे ।
बाजा बजत दुआर, नारिगण मंगल गायो रे ।।
बहि गै रस की धार, अनन्द न पुरहिं अमायो रे ।
दुलहे पै बलिहार, हर्ष सिधि ब्याहन आयो रे ।।

[पंचध्वनियों से कोलाहल हो रहा है। वर को ब्याह-मंडप में आसनासीन कर दिया गया है। श्री विदेहराजजी अपने पुरोहितों एवं बरातियों के साथ मंडप की शोभा परिवर्धित कर रहे है।]

पुरोहित जी : महाराज ! पाणिग्रहण का शुभ समय समुपस्थित है, कन्या को मंडप में अब आना चाहिये।

महाराज श्रीधरजी : सखियों ! पुत्री को शीघ्र सर्वालङ्कारों से अलंकृत कर ब्याह-वेदिका में सविधि ले आओ।

[वनिता-वृन्द के मध्य में सुख-सुषमा-श्रृँगार की मूरति श्री सिद्धि कुँअरिजी सहज ही शोभायमान हो रही हैं। मंडप में पहुँचते ही मंडप-स्थली और अधिक प्रकाशमान हो उठती है। वर-वधू को देखकर विदेह राज सहित सब बराती आनन्द मग्न हो जाते हैं। पुरोहितजी शान्ति-पाठ के साथ क़न्या को आसन देते हैं।]

पुरोहितजी : (वेद–विहित–विधि कराकर) हाँ; महाराज ! कन्या के पाणि को अक्षत–कुश के साथ, आप अपने हाथ में रखें, महारानी आपके कर–कमलों में जल छोड़ें, तदोपरि मंत्र के साथ विष्णु स्वरूप–वर को लक्ष्मी–स्वरूपा–कन्या का दान करें अर्थात वर कन्या का पाणिग्रहण करे।

महाराज श्रीधरजी : (विप्रानुमोदित विधि करके) हे गौतमगोत्रोत्पन्न श्री मिथिलाधिप सीरध्वज कुमार ! सर्वालङ्कारों से अलंकृत रूप, शील, गुण और वय में सर्वथा आपके अनुरूप मैं अपनी जन्मना–सिद्धि संप्राप्ता–सुकुमारी–कन्या, आपको समर्पण कर रहा हूँ। अतएव आप इसका पाणिग्रहण करिये, यह मेरी ओर से त्रिकरण–त्रिवाचा सादर सनम्र और सप्रेम सत्य कथन है। सुनकर युवराज लक्ष्मीनिधिजी श्री सिद्धिजी का पाणिग्रहण कर अपनी दाहिनी ओर बैठा लेते हैं। जयनाद के साथ पुष्पों की झड़ी लग जाती है। पंच ध्वनि से आनन्द अधिक–अधिक वृद्धिंगत होता जाता है। राजा–रानी पाद–प्रक्षालन करते हैं। पुराहितजी मंत्र पढ़कर अतिरिक्त कृत्य कराते हैं।

पुरोहितजी : हाँ, अब अग्निदेव की परिक्रमा करके वर–कन्या को लाजा हवन करना चाहिए।

[पुरोहितजी के कथनानुसार भाँवरी होने लगीं। स्त्रियाँ मंगलगान करने लगीं। वाद्य बजने लगे।]

पद : देखो दुलहा देत भमरिया हे।
दुलहिन संगे उलहत उपमा, कनक – मूर्ति – गोरो–गोरिया हे ।
नख–शिख ब्याह विभूषण साजे, सोहति सुन्दर ज़ोरिया हे ।
लक्ष्मीनिधि अरु सिद्धि कुँअरि की, छलकति छबी छहरिया हे ।
नयनवन्त दर्शन सुख पावत, दम्पति करति कहरिया हे ।
सकुचत सटे अंग इक–इक ते, नत करि नवल नजरिया हे ।
सो शोभा सुख कहत बने नहि, आवत अनंद अपरिया हे ।
हर्षण हर्ष समय सुधि करि करि, धनि दोउ कुँअर कुँअरिया हे ।

पुरोहितजी : अच्छा, मैं मन्त्रोच्चारण कर रहा हूँ, सिंदूर हाथ में लेकर वर को, कन्या के शिर में देना चाहिये।

[पुरोहितजी मंत्र पढ़ रहे हैं। लक्ष्मीनिधिजी सिंदूर लेकर सिद्धि कुँअरि के शिर में सात बार लगाते हैं। पंच–ध्वनि हो रही है, विप्र–मंडली सहित घराती–बराती, नर–नारी सभी एक स्वर से त्रिवार बोलते हैं–श्री कुँअर लक्ष्मीनिधिजी का सिद्धि कुँअरि के साथ विवाह हुआ। विवाह हुआ।। विवाह हुआ।।।]

पुरोहित जी मंगलानुशासन करके आशीर्वाद देते हैं।

[पंडित जी सहित सभी नेगहारी अत्यधिक नेग पाकर परम प्रसन्न हुये। श्री मिथिलेशजी महाराज बरात को लेकर जनवासा पधारे। दूलह दुलहिन कोहवर में चार दिन रहने के पश्चात् जनवासा पहुँचकर सबको सुख संप्रदाता बने।]

[बारात श्री श्रीधर महाराज के महान आतिथ्य सत्कार को दिन प्रतिदिन अधिकाधिक ग्रहण करती हुई, उनके आग्रह से कई दिन रुककर मिथिला प्रस्थित होने के लिये बिड़ावल नरेश से विदा माँगने की चेष्टा में है ।]

पटाक्षेप

अष्टम् दृश्यः ८

[श्री मिथिलेशजी महाराज श्री श्रीधर महाराज से अनुमति लेकर, स्वपुर-प्रस्थान करने की तैयारी कर रहे हैं। कुँअर लक्ष्मीनिधिजी को अन्तःपुर से विदा लेने के लिये आज्ञा दे चुके हैं।]

महाराज श्रीधरजी : (अन्तःपुर में अपनी रानी से साश्रु)प्रियतमे ! पता है न ? आज निमिकुल-भूषण महाराज मिथिला पधारना चाहते हैं। उनके आग्रह से विवश होकर मुझे विदा देने का वचन दे देना पड़ा है। क्या करूँ? आज लाड़िली सिद्धा के बिना सदन सूना ही हम लोगों को देखना पड़ेगा।

रानी कान्तिमतीजी : (नेत्रों में जल भरकर) प्राणनाथ ! कन्या पितृगृह में रखी भी तो नहीं जा सकती, विधि की यही सनातनी मर्यादा है। पुत्री की शोभा की सुमन-कली श्वसुर-गृह में ही विकसित और सुरभित होती है, जानते हुये भी पुत्री का वियोग उसकी माँ को आज अधीर बना रहा है।

महाराज श्रीधरजी : अच्छा, तो समय से विदा की तैयारी करने में, तुम्हें लग जाना चाहिए, प्रियतमे।

रानी कान्तिमतीजी : जीवननाथ की आज्ञा शिरोधार्य है। सबसे पहले बिदा की चर्चा न चलाकर बेटी को कुछ भगवत्-प्रसाद सेवन करा देना चाहिए अन्यथा आज ही विदाई है, जानकर वह भूखी ही रह जायगी।

महाराज श्रीधरजी : मैं बाहर जा रहा हूँ, आर्ये ! यहाँ लाड़िली के रूप, गुण, शील, स्वाभावादि की स्मृति मुझे विशेष अधीर बना रही है।

[महाराज बाहर जाते हैं। अन्तःपुर से बिदा लेने के लिये कुँअर श्री लक्ष्मीनिधिजी अपने बन्धुओं सहित जनवासा से पधारते हैं।]

महाराज श्रीधर : (लक्ष्मीनिधिजी से सस्नेह मिलकर) दासी ! कुँअरजी को भीतर महारानी के पास पहुँचा दो।

रानी कान्तिमतीजी : (दासी के साथ युवराज श्री लक्ष्मीनिधिजी को देखते ही उठकर) आइये लाल, आइये। (आरती उतारकर सिंहासन में पधराती हैं, पुनः उबटन-स्नान कराकर सुन्दर वसन, विभूषण पहनाती हैं तदुपरान्त अनेकानेक व्यंजनों को पवाकर ताम्बूल पवाती हैं पुनः आरती तथा मंगलानुशासन करके पुनः पुनः बलैया लेती हैं।)

रानी कान्तिमतीजी : सखी मोदिनी जी ! मेरे प्राणों की प्यारी अतिशय दुलारी बेटी सिद्धि कुँअरि को यहाँ ले आओ।

मोदिनी जी : अभी ले आई, महारानी जू ! वह अश्रु बहाती हुई अपनी सहेलियों के साथ बैठी है। हाय ! विधिना ने नारी की रचना क्यों कर की ?

[थोड़ी देर के बाद मोदिनी के साथ सखियों से समावृत सिद्धिजी को आती देख कर कान्तिमतीजी उठकर प्यार करती हुई अपने अंक में बैठा लेती हैं। माँ-बेटी एक दूसरे के वियोग का स्मरण करते ही विरह-विभोर होकर पुनः धैर्य धारण करती हैं।]

रानी कान्तिमतीजी : हे लाड़िले लाल लक्ष्मीनिधिजी ! यह बेटी मुझे प्राण प्रियतरा है, आपको सौंप रही हूँ; अपनी प्राण-प्रियतमा किंकरी करके इसे मानियेगा। अपराधों को क्षमा करते रहेंगे, अब आप ही इसके सर्वस्व हैं।

लक्ष्मीनिधिजी : (संकोच के साथ) अम्बाजी ! जैसे मुझे अत्यन्त आदरणीय मेरी माता हैं, उसी प्रकार आप हैं। जननी के वचनों का निरादार कौन आर्य-पुत्र करेगा ! आप अपनी अभिलाषा-बेलि को पल्लवित और पुष्पित पायेंगी।

रानी कान्तिमतीजी : बेटी सिद्धि कुँअरि ! पतिदेव को साक्षात् हरिभगवान मानना, आर्य-पत्नी का सहज धर्म है। पति की इच्छा को अपनी इच्छा तथा तत् सुख को स्वसुख समझकर भर्ता के मुखोल्लास के लिये दासीवत्, सखीवत् , मातृवत् व भार्यावत्, सब प्रकार के कैंकर्य करते रहना स्त्री का परम पुरुषार्थ है। मुझे तुमसे यही आशा है।

पद : तिय को धर्म पतिव्रत प्यारो।
पतिहिं जानि परमेश्वर नारी, पूजै प्रेम पसारो।
तत सुख सुखी स्वसुख कहँ त्यागी, पतिरुख सेव सम्हारो।
हर्षण इहै परम पुरुषारथ, पति-प्रभु एक न न्यारो।

श्री सिद्धिजी :[साश्रु सुनती हुई माता के वचनों को सदा के लिये हृदय में धारण कर, मौन-भाषा में उत्तर देती हैं। त्रिकरण ऐसा ही करूँगी।]

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (प्रणाम करके) मिथिला प्रस्थित होने की शुभ-बेला सन्निकट है माँ। दाऊजी मेरी प्रतीक्षा में होंगे। अस्तु, आशीर्वाद के साथ मुझे आज्ञा प्रदान करें।

रानी कान्तिमतीजी :[सजल नेत्रों से] वत्स, चिरंजीव ! आपका त्रिकरण मंगल हो। भगवान की भरपूर कृपा प्राप्त हो। दाम्पत्य-जीवन आनन्दमय हो ! (पुनः पुनः बलैया लेकर) अच्छा जाइये। पुनः समय समय से बिड़ावल-वासियों को अपना प्रियकर दर्शन देते रहेंगे।

[प्रणाम कर श्री युवराज लक्ष्मीनिधिजी पिता जी के पास प्रस्थान करते हैं।]

[साश्रु विलोचना श्री सिद्धि कुँअरिजी पुनः पुनः पिता, भ्राता तथा सहेलियों से मिलकर माताजी के मुख की ओर देखते ही बिलख-बिलखकर रोती हुई, हृदय से लिपट जाती हैं। परिवार व पुर की नारियाँ भेंट दे-देकर सिद्धि जी का दर्शन करते ही करुणा से भर जाती हैं जैसे रनिवास में करुणा की कटक ने आकर छावनी डाल दी हो। बाहर श्रीधर महाराज अनेक प्रकार से बहुत अधिक दाइज देकर, मिथिलेशजी को प्रणाम करते हैं। बार-बार क्षमा याचना करके पुत्री के सुख के योग्य अनेक-अनेक धन एवं दासी-दास पुनः प्रदान करते हैं।]

रानी कान्तिमतीजी : (कण्ठ भरकर) बेटी ! प्रस्थान की सुन्दर शुभ बेला आ गई है अस्तु अब उसका अतिक्रमण न होना चाहिये। मुझ अभागिनी के घर, अंधेराकर श्वसुर–गृह को चलकर प्रकाशित करना किन्तु ...जननी को भूलना नहीं।

[रानी कान्तिमतीजी अपने राज–परिवार की नारियों के साथ बिलखती हुई सिद्धिजी को पहुँचाने जाती हैं। सिद्धिजी फिर–फिरकर माता एवं सखी–सहेलियों के मुख को देख–देखकर अधीर होकर अधिक–अधिक रोती हुई उनसे लिपट जाती हैं। माता समेत सब सहेलियाँ उन्हें रत्नजटित पालकी में चढ़ा देती हैं। कहार लोग पालकी को उठाकर प्रस्थान करते हैं।]

पटाक्षेप

....

नवमः दृश्यः ९

[रानी कान्तिमतीजी लाड़िली बेटी सिद्धा के विरह से भरी हुई समुचित भोजनादि न करने से कृश–वदना हो गई हैं, भान भूलकर पागल–सी बनी हुई सखी से बोलीं .....]

रानी कान्तिमतीजी : अरी तुम कौन हो ?

मोदिनी : (आश्चर्य व शोक से) महारानी जू ! मैं आपकी सखी मोदिनी हूँ। आप यह क्या कह रही हैं ?

रानी कान्तिमतीजी : यहाँ क्यों आई हो ? क्या कर रही हो ?

मोदिनी : मैं अपनी महारानीजू के सहचरी–सम्बन्ध से सहचरित्व को निभाने के लिये आई हूँ और वही कर रही हूँ।

रानी कान्तिमतीजी: मैं कौन हूँ? क्या कर रही हूँ?

मोदिनी : आप ही तो हमारी महारानी साहिबा कान्तिमतीजी हैं, रोती हुई सारी सुधि–बुधि खोकर पागल पने की बातें कर रही हैं।

रानी कान्तिमतीजी : रो क्यों रही हूँ ? मोदिनी !

मोदिनी : आप अपनी आत्मजा के वियोग–जनति व्याधि की पीड़ा से रुदन कर रही हैं।

रानी कान्तिमतीजी : कौन सी पुत्री का वियोग हुआ है, मुझे मोदिनी।

मोदिनी : आपकी प्राण–प्रियतरा पुत्री श्री सिद्धि कुँअरि का वियोग हुआ है, महारानी जू !

रानी कान्तिमतीजी : क्यों ?

मोदिनी : विवाह हो जाने से वे श्वसुरालय गई हैं।

रानी कान्तिमतीजी : (चित्त में स्मृति उदय हो जाने से रोती हुई) हाय सिद्धा! (कहकर पंछाड़ खाकर गिर जाती हैं, पुनः चैतन्यता आने पर) हाय सखी ! मेरी लाड़िली सिद्धा ! आज मुझे अकेली छोड़कर चली गई। भगवान उसका मंगल करे। हाय यह घर उसके बिना सूना हो गया।

मोदिनी : महारानी जी ! संसार की यही मर्यादा है, पुत्री को पर घर जाना ही पड़ता है, उसकी सर्वाङ्गीण शोभा का सुन्दर विकास जैसा श्वसुर–गृह में होता है, वैसा पितृ–गृह में नहीं।

रानी कान्तिमतीजी : सखी ! मेरी लाड़िली का रूप, गुण व शीलस्वभाव और भगवद्भक्ति मेरे हृदय में घर कर गई है, ऐसी सब प्रकार से श्रेष्ठ सुवत्सा का वियोग मुझे छोड़कर किस वात्सल्यमयी माता को सह्य होगा। मैं अत्यन्त कठोर हृदया हूँ, मोदिनी ! (रो पड़ती हैं..)

मोदिनी : महारानीजू ! आपकी लाड़िली आप ही के हृदय में केवल घर कर गई हों, सो नहीं। सम्पूर्ण राज–परिवार तथा पुर की नागरियों को वे प्राणों से प्यारी थीं, हैं और रहेंगी। उनके वियोग के राहु से सभी का मुखमार्तण्ड ग्रस्त हो गया है, देवि !

[महाराज श्रीधर अन्तःपुर में आते हैं। महारानी उठकर अभिवादन पूर्वक आसन देती हैं। राजा अन्तःपुर को पुत्रि के विरह–वह्नि से व्याकुल देखकर .....]

महाराज श्रीधरजी : महारानी ! धैर्य धारण करें, यह तो महत्वपूर्ण मांगलिक कार्य है, फिर इसमें इतने कष्ट का अनुभव क्यों ? मुझे नहीं देखतीं, आप !

रानी कान्तिमती जी : प्राणनाथ ! आप पुरुष हैं, अपने को सतर्क संभालने में लगे हैं, तो भी विरह–वेदना व्याकुलता को बढ़ाकर आपको भी अधीर बनाने की चेष्टा कर रही है। नाथ के मुख का मालिन्य ही यह कह रहा है, फिर मैं तो सहज असमर्थ अबला हूँ, क्या करूँ? समझाने से भी तो समझ नहीं आती, महाराज !

महाराज श्रीधरजी : मैं यह मानता हूँ कि सिद्धि कुँअरि जैसी परम पुनीत पुत्री का वियोग सब के लिये स्वाभाविक असह्य है, फिर भी संभलने एवं धैर्य धारण करने से ही सुख का संयोग संभव है, महारानी !

रानी कान्तिमतीजी : देखिये न, महल की दीवारों पर बैठने वाले मोर, पारावत तथा अन्य पाले हुये पक्षी भी भोजन छोड़कर केवल अश्रु बहा रहे हैं। हा..मेरी सिद्धि कुँअरि .. हा मेरी लाड़िली (कह कर महारानी रो पड़ती हैं।)

महाराज श्रीधरजी : सिद्धि के कर–कमलों से स्पर्श की हुई, ये भवन–लतायें भी मुरझाई हैं, गृह–वाटिका उसके वियोग में मूर्छित–सी हो गई हैं, यह बात सत्य है, प्रियतमे ! किन्तु ये बेलियाँ सिद्धि के भावी महान सुख को नहीं समझतीं। हमें आपको तो पुत्री के आनन्द का सिन्धु, यहीं से लहराता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है, इससे धैर्य तो धारण करना ही चाहिये।

रानी कान्तिमतीजी : आपकी आज्ञा शिरोधार्य है नाथ ! किन्तु क्या करूँ ? विवश हूँ, माता के हृदय को माता ही जानती है। ये उसके खेलने की वस्तुएँ, यह उसका निवास स्थान और ये उसके बजाने के पुराने विविध प्रकार के वाद्य, मुझ वियोगिनी के हृदय में विरहोद्दीपन का कारण बन रहे हैं।

[सिद्धिजी की सहेलियों का प्रवेश]

सखियाँ : अम्बाजी ! हमारी सहेली सिद्धि कुँअरि जी का हमें शीघ्र दर्शन करा दें। उनकी अनुपस्थिति में सम्पूर्ण सुख के साज किंचित भी नहीं सुहाते।

[कह कर सब सखियाँ दुखी होकर गाती हैं]

पद : मैया मोरी सिद्धिहिं, देहि दिखाय।
तेहि बिनु सुख को साज सकल जग, दुख स्वरूप दिखराय।
सँग सँग केलि करी प्रति दिवसहिं, मज्जन असन सुहाय।
खेलत लखी न तेहि मुख रूखो, प्यारति सबहिं सुभाय।
हर्षण हाय कबहिं सो मिलि हैं, विरह विपत्ति बिहाय।

रानी कान्तिमतीजी :(सब को बारी-बारी से अंक में लेकर मुख पोंछती हुई प्यार करती हैं।) अरी बेटियों ! सिद्धि के चले जाने पर तुम्हीं लोगों को देख देखकर तो मुझे शान्ति का अनुभव करना है। अस्तु, शान्त हो जाओ, रुदन मत करो।

[इतने में ही यशधरजी और कान्तिधर जी आते हैं माता-पिता को प्रणाम करके उचित आसन पर अनुजा के वियोग में साश्रु बैठ जाते हैं।]

यशधरजी : मैया ! आप धैर्य धारण करें। पिताजी की आज्ञा से मैं थोड़े समय ही में मिथिला जाकर, सिद्धि कुँअरि को लिवा लाऊँगा। इस प्रकार मेरी अनुजा का आना जाना, अत्र-तत्र लगा ही रहेगा।

रानी कान्तिमतीजी : वत्स ! तुम्हीं लोगों का मुख-दर्शन तो मुझे धैर्य देने वाला है। मैं अब सम्हल रही हूँ। क्या करूँ? सिद्धि कुँअरि न जाने कैसे मेरे मन को अपने साथ लेती गई है, यों तो मेरी बेटी अपने सुन्दर स्वभाव से श्वसुर कुल के सब लोगों को प्रसन्न कर लेगी किन्तु अपने संकोची स्वभाव के कारण आवश्यक भोजनादि में भी संकोच करके कहीं कृशवदना न हो जाय, यही शंका मुझको मथे डालती है, वत्स !

कान्तिधरजी : श्री सिद्धि कुँअरि के साथ में उन्हें सब प्रकार से प्रसन्न रखने एवं मनोनुकूल सेवा करने के लिये बहुत से दासी दास गये हैं न, माँ ! आप किसी प्रकार की चिन्ता न करें। उन्हें तो देव-दुर्लभ सुख-सिन्धु ही सुलभ हो गया है।

रानी कान्तिमतीजी : मेरी लाड़िली का पूर्णतया मंगल हो, मंगल हो, मंगल हो।

पटाक्षेप

....

दशमः दृश्यः १०

[मिथिला के सुन्दर राज-प्रासाद में हर्षोत्फुल्ल-वदना श्री विदेह-राज-नन्दिनी जू अपनी चन्द्रकलादिक सखियों से सेवित सुन्दर सिंहासन पर विराजी हैं।]

पद : सखि आनँद सिन्धु उमड़ि आयो।
भैयहिं ब्याहि बराती आजहिं, अइहैं दाऊ सहित सुहायो ।
उत्सव महा मची या पुर महँ, पंच ध्वनिहु श्रवणन सुखदायो ।
भाभी परम प्यार करि हमरो, दै हैं नेग विविध मन भायो ।
हर्षण स्वयं प्रसन्न मना ह्वै, मनि हैं हमहिं प्रीति अधिकायो ।

[श्री किशोरीजी उपर्युक्त पद-समाप्ति के अनन्तर श्री चन्द्रकलाजी से कहती हैं।]

श्री सीताजू : आज भैया के विवाह की बारात लौटेगी, चन्द्रकले ! पुर के चौराहे-चौराहे, गली-गली और घर-घर में परिजन-पुरजन और श्रीमान् पिताजी के द्वारा बड़े धूम-धाम एवं सर्व विधि से आनन्दोत्सव मनाया जायगा। अहा ! श्री भाभीजी का प्रथम पदार्पण होगा यहाँ, वे हम लोगों को परम प्यार करके प्रमुदित होंगी। प्रेमपूर्वक प्रथम परिरम्भण का नेग प्रदान करेंगी। मुझे तो उनकी आकृति का अवलोकन करते ही अत्यन्त आनन्द की अनुभूति होगी, आली ! अहह .. आज सीता स्वसुख-सम्बर्धिनी सिद्धि नाम्ना भाभी को प्राप्त कर सर्वस्व पा जायेगी।

चन्द्रकलाजी : स्वामिनी जू ! भाभीजी का दिव्य-दर्शन ही हम लोगों को आनन्द की राशि-राशि अर्जन करने का हेतु होगा। प्यार पाकर तो सुख-स्वरूप ही बन जायँगी हम।

चारुशीलाजी : हमने अपनी मैया के मुख से सुना है कि भाभीजी रति-मद-मर्दिनी सुन्दरता की सीमा हैं। सौन्दर्य, सौकुमार्य, माधुर्य, सौष्ठव और लावण्य-लालित्यादिकाय-सम्पत्तियाँ उनके अंग-अंग से चूती-सी हैं, जिसकी पुनरावृत्ति विस्तृत वसुन्धरा में अब तक अदृश्य है।

श्री सीताजू : हम अपनी भाभी जी की नन्ही ननँद हैं न ! जब ऐसी देह-सम्पत्ति से युक्त अंक में लेकर वे हमारा प्यार करेंगी, तब उस अतीतानन्द के अतिरिक्त अन्तःकोष में अन्य कामनाओं का कणांश भी न रहेगा, आली ! हमें सर्वस्व संप्राप्त हो जायगा।

उर्मिलाजी : (माण्डवी, श्रुतिकीर्ति इत्यादि बहनों के साथ) हम लोग तो आप से भी नन्ही-मुन्नी ननँद हैं न, किशोरी जू ! इसलिये भाभी जी आप से कहीं अधिक प्यार हम लोगों का किया करेंगी। अहो.. अहर्निशि उनको छोड़कर कहीं जाने की इच्छा ही न उत्पन्न होगी। अहा..आनन्द के अयन में ही हमारा मज्जन, अशन और शयन सदा होता रहेगा।

चन्द्रकलाजी : सुनते हैं कि श्री भाभीजी संगीत कला में बड़ी ही कुशल हैं। वे वीणा व वंशी को लेकर जब सुधा-संसिक्त स्वर भरती हैं, तो जड़ चेतन और चेतन, जड़वत हो जाते हैं, सम्पूर्ण राग-रागिनियाँ उन्हें सिद्ध हैं। उनके कोकिल-कंठ की कला का चमत्कार पूर्ण वैचित्र्य एवं वैलक्षण्य कुछ और ही है।

हेमाजी : अच्छा होगा हम लोग भी उनके गन्धर्वीय-विद्या की विशेषज्ञता से पूर्ण लाभ ले सकेंगी। चाहिये भी, जैसे भइया वैसी ही भाभी। इस विद्या में भैया का भी पूर्ण अधिकार है। हम लोगों में उन्हीं के कला-कौशल की तो छाप है।

क्षेमाजी : सुना है मैंने कि भाभी जी का स्वभाव बहुत ही सुन्दर और कोमल है। शील की तो वे साक्षात् प्रतिमा तथा क्षमा की मन्दिर हैं।

पद्मगंधाजी : श्री भाभी जी का कमनीय-कान्ति से युक्त मुख-मण्डल का दर्शन चन्द्र से भी अधिक मधुर व प्रिय है। उन्हें देखकर बड़ी-बड़ी सुगन्धित शरीर वाली सुर-सुन्दरियों के नेत्र निर्निमेष हो जाते हैं। ऐसा सुना है, कि स्त्री-संमोहन उनकी अलौकिक और अनिर्वचनीय रूप-माधुरी मधु पूर्णा है।

वरारोहाजी : आली ! तभी तो भैया के अनुरूप हो सकेंगी भाभी । अहा ... ! अपने भइया के भी रूप-गुण-स्वभाव सभी अप्रतिम और अलौकिक हैं। विधिना बड़ा बुद्धिमान है, वह सबको समय में उचित फल ही प्रदान करता है।

मदन-मंजरीजी : सुनती हैं कि भाभी जी जन्म से ही योग की सर्व-सिद्धियों से समन्वित हैं, इसी कारण से वे सिद्धि कुँअरि नाम से विख्यात हैं। नाम रखने वाले भी अपने कुल के आधार भूत ज्ञान गुरु योगेश्वर श्री याज्ञवल्क्यजी महाराज ही हैं।

सुषुमाजी : तब तो हम लोगों की श्रवण की हुई सभी बातें सर्वथा सत्य होंगी, आली ! क्योंकि अपने गुरुदेव त्रिकालज्ञ साक्षात ब्रह्म स्वरूप ही हैं। उनकी कही हुई तथा अनुमान की हुई सभी वार्तायें निःसंदेह अक्षरशः सत्य होती हैं।

सुभगाजी : अपने आचार्य देव ने भइया के जन्म समय में ही संभव इसी दिशा में और ऐसी ही गुण वाली कन्या के साथ विवाह का योग भी बताया था न ? हमने अपनी अम्बा के मुख से ऐसा ही सुना है, आली ! श्री याज्ञवल्क्यजी महाराज के वचन सदा सत्य होते आये हैं, ऐसी मान्यता बड़े दाऊजी की भी है।

लक्ष्मणाजी : सभी लक्षणों से सम्पन्न पुत्र-वधू पाने की प्रबल इच्छा बड़ी माताजी तथा बड़े दाऊजी के मन में थी। इसलिये ईश्वर ने उनके मनोरथ को पूर्ण कर दिया और हम लोगों के मन में भी तो भइया के अनुरूप भाभी मिलने की अत्यन्त कामना थी न ? पूर्ण मनोरथा होकर हम सब सुखी हो गईं, आली ! विधाता की जय हो...।

श्री सीताजू : सखी हमने सुना है कि नारदजी के मुख से हमारे विषय की कुछ बातें सुनकर भाभीजी विवाह के पहले से ही हम पर अत्यन्त अनुरक्त हैं। भगवद्भक्ति की तो वे जीती-जागती साक्षात् प्रतिमा हैं। सभी भागवद्धर्म तथा श्रेय गुण उन्हें वरण किये हुये हैं। आली ... हम बड़ी भाग्यशालिनी हैं, जिसके प्रमाण भूत हमें ऐसी भाभी का परम लाभ प्राप्त हुआ है।

चन्द्रकलाजी : सर्वेश्वरीजू ! आपकी इच्छा ही तो साकार रूप सिद्धिजी के स्वरूप में हम लोगों को दर्शन देने आ रही है। हमें स्मरण है, आप अकेले में जब तब हम से कहा करती थीं कि हमें ऐसी भाभी मिले जो सर्वथा, सब प्रकार से हमारे स्वभाव के अनुकूल हो जिससे हम दोनों की प्रीति प्रारम्भ से प्रतिक्षण वर्धमान होती हुई इति को न प्राप्त हो। आप सत्य-संकल्पा हैं अस्तु इसमें आश्चर्य ही क्या ?

चारुशीलाजी : भाभी जी जब आयेंगी, तब भर नेत्र हम उन्हें देखेंगी और वे चन्दन-चर्चिता-चंद्रवदना-चार्वाङ्गी मन्द-मन्द मुसकराती हुई चित-चोरनी-चितवनि से हमारा अत्यन्त प्यार करेंगी। बस, आनन्द......आनन्द। भइया और भाभी की गोद हमारी क्रीड़ा-स्थली बन जायगी। हम लोग लड़कपन भी कुछ करेंगी, तो भी भाभी उसे स्व-सुख का साधन ही समझेंगी। हमारे और उनके बीच में कोई अन्तर, संकोच और दुराव न रहेगा। हम सब एक आत्मा एक मन हो जायेंगी।

[इसी प्रकार की बातें कर सभी आनन्द मग्न होकर गीत गाती हैं।]

गीत : भाभी को मुख देख सुखी होंगी हम सब बाला।
आनँद अमिय अशेष अहो पीवैंगी त्रय काला।

भाभी भैया गोद बिराजैगी सब सुख शाला।
हर्षण हिय में मोद लखत भल भाव रसाला।।

पटाक्षेप

इति प्रथमः अङ्कः

....

अथ द्वितीयः अङ्कः

एकादशः दृश्यः ११

[महारानी सुनैना जी अपने अन्तःपुर में राजघराने की नारियों तथा सखी-सहेलियों और दासियों से समावृत सुन्दर आसन पर विराजित हैं। बारात लौटकर आ रही है। समाचार सुनकर परिछन की तैयारी में सब व्यस्त हैं। नगर चारों ओर अत्यन्त सुन्दर सजा दिया गया है। बाजे बज रहे हैं। पुरी में चारों ओर खूब चहल-पहल मची है।]

सुनैनाजी : अरी बहन सुदर्शनाजी ! अपने राजा महाराज, श्री महराज शतानन्द जी की आज्ञा से वर्तमान लग्न में ही वधू-प्रवेश का उत्तम-मुहूर्त जानकर परिछन करने के निश्चित स्थान पर आ रहे हैं। ड्योढ़ी मे रहने वाली बूढ़ी-दासियों से मुझे सही खबर मिली है। सुनो न ? विविध प्रकार की वाद्य-ध्वनियाँ, जय-जयकार के साथ सुनाई दे रही हैं। अस्तु, हम लोगों को सभी परिछन साज के सहित बाहर परिछन आरती करने चलना चाहिये।

सुदर्शनाजी : महारानी जी ! हम तो अत्यन्त आतुर हो उस शुभ घड़ी की प्रतीक्षा में हैं कि कब वर-वधू का परिछन कर मंगलानुशासन करती हुई लोक-विधि से अन्तःपुर में प्रवेश करायेंगी और उनके मुख-मयंक का अवलोकन कर नेत्रों को सुफल करेंगी।

चलिये न ! आपके उठने की केवल देरी है, सब साज लिये हुये सखियाँ पहले से ही उपस्थित हैं।

[षोडष-श्रृंगार से युक्त भाँति-भाँति की कनक-सूत्र-विनिर्मित साड़ियों से विभूषित मंगल गीत गाती हुई राज-महिलायें, श्री महारानी सुनैना जी के साथ परिछन करने जा रही हैं। कंकण-किंकिणि और नवलनूपुरों की ध्वनि मुनियों के मन को भी अपनी ओर आकृष्ट कर रही है।]

नारियों का समवेत लोक गीत :

आज हमारे लाल कुँअर जी, ब्याहि महल महँ आये।
चन्द्रमुखी गुण-गेह-रसिकिनी, अनुपम दुलहिन लाये।।
हय-गय-महिषी-धेनु-वृषभ-रथ, दासी-दास सुहाये।
वसन-विभूषण-रत्न विविध विधि, अतिशय दाइज पाये।
चढ़े पालकी दम्पति सोहैं, पंच शब्द भल भाये।।
रानि सुनैना परिछन आरति, करति अनन्द अमाये।
राई-लोन उतारति नाउनि, नेग पाइ हर्षाये।।
हर्षण मातु उतारि दुहुन कहँ भीतर चली लिवाये।

[मंगल गीत के साथ माता सुनैना परिछन आरती करके दूलहा-दुलहिन को अन्तःपुर प्रवेश कराती हैं। एक सिंहासन पर आसीन कर लोक-वेद विधि करती हैं। आनन्द मग्न होकर पुत्र और पुत्र-वधू का मंगलानुशासन करती हैं। श्री विदेह राज-नन्दिनी जू अपनी सहेलियों के साथ समुत्सुक-हर्षोत्फुल्लनयना सभी क्रिया कलापों को देख रही हैं।]

पुरोहितानी जी : वत्स लक्ष्मीनिधिजी ! आप आवश्यकीय वैवाहिक-कृत्यों से अब अवकाश पा चुके हैं, अपनी पूज्य माता तथा कुल की सयानी माताओं को प्रणाम करके बाहर जाकर गुरुजनों को सादर सनम्र प्रणाम करें।

श्रीलक्ष्मीनिधिजी : पूज्य पुरोहितानीजी ! आपकी आज्ञा का सादर अनुवर्तन अभी-अभी कर रहा हूँ। [उठकर पुरोहितानी जी को प्रणाम कर पुनः श्री सुनैना अम्बा समेत पूज्य परिवार की नारियों को प्रणाम करते हैं। सामने बन्धु-प्रेम से भरी अपनी अनुजा श्री किशोरीजू को प्रणाम करते देखकर कुँअर लक्ष्मीनिधि जी प्रेम से पुलकित होकरश्री किशोरी जू को गोद में लेकर खूब दुलार करते हैं। तदनुसार सभी अनुजाओं को स्नेह-स्पर्श कर कहते हैं-- "लली किशोरी, तुम्हारे व तुम्हारी अनुजाओं के लिये खूब-खूब सुखकर वस्तुयें लाया हूँ। समय से अवकाश पाकर दूँगा।" ऐसा कह कर कुँअर बाहर चले जाते हैं।]

[पुरोहितानीजी वधू को प्रणाम करना सिखाती हैं व कहती हैं कि ....]

पुरोहितानीजी : महारानी सुनैना जी ! दुलहिन की छवि तो वस्त्रों से फूट फूटकर बाहर निकल रही है, जिससे स्पष्ट है कि यह कक्ष अधिक-अधिक जगमगाता सा प्रतीत हो रहा है किन्तु इस शुभ मुहूर्त में आप अपनी पुत्र-वधू के घूँघट-पट को उठाकर मुख-मयङ्क का अच्छी तरह दर्शन कर लें और दुलारी बहू जिससे परम प्रसन्न हो जाय, ऐसा मुख-देखाई नेग उसे सप्रेम दे दें।

[हर्षाश्रु लोचना श्री सुनैना जी बहुत से मणि-माणिक्य-हीरादि रत्नों से जड़े हुये नख-शिखान्त तक के विविध राशि स्वर्णाभूषण, विविध प्रकार के बहुमूल्य वस्त्रों के सहित बहुत सा धन नव-वधू को देकर घूँघट का पट खोलती हैं। चन्द्र-ज्योत्स्ना को विलज्जित करने वाले श्री सिद्धि जी के चन्द्र-मुख को देखकर अम्बा सुनैना जी प्रेमानन्द में पगकर विभोर हो जाती हैं। मंदस्मिता-निम्न-नयना सिद्धि जी का वदनाम्भोज सुनैना जी के चित्त को अपहरण करने में समर्थ सिद्ध हुआ।]

सुनैना जी : आपकी चरण रज की कृपा से पुत्र-वधू बिना कमल लिये हुये, साक्षात् लक्ष्मी हैं, पुरोहितानी जी ! रति-मुख तो इस मुख के ब्याज में भी न होगा, मैं धन्य हो गई। जैसा पुत्र वैसी ही पुत्र-वधू। यह सब आचार्य श्री के पद-पद्म-पराग की कृपा है।

[सिद्धि जी को स्पर्शादि से वात्सल्य-स्नेह का प्रदर्शन करती हुई पुनः श्री किशोरीजू को अपने निकट बुलाकर अंक में बिठाकर ...]

सुनैना जी : मेरी लाड़िली पुत्र वधू ! तुम मुझे वैसी ही प्राणों से प्रियतरा हो जैसा मेरा ललन और यह लाड़िली ! मैंने सुना है कि सम्बन्ध के पहले से ही किशोरी पर तुम्हारा अत्यन्त अनुराग है। अस्तु, मुख-देखाई-नेग में, तुम्हें, इसी को देती हूँ। लो खूब लाड़ लड़ाओ, खूब प्रसन्न रहो, खूब सुखी रहो। ननँद और भाभी की प्रीति, प्रतिक्षण

वद्धिगत होती रहे, दोनों एक दूसरे की नेत्र–विषय बनी रहो। मैं अपनी नयन–पुतलियों को प्रेम से देख–देखकर आनन्दाम्भोधि में गोता लगाती रहूँ।

[अम्बा किशोरी जू को सिद्धिजी के आसन में बिठा देती हैं। सिद्धिजी अपनी ओर सस्नेह आकर्षित कर, स्पर्श जनित आनन्द का अनुभव करने लगती हैं।]

श्री किशोरीजू : अम्बाजी ! अब हम भी अपनी भाभी जी के श्री मुख को अच्छी तरह देख लें क्या ? उत्सुकता व अधीरता के कारण विलम्ब हमसे असहनीय हो रहा है, अब ।

सुनैना जी : हाँ, हाँ, क्यों नहीं, खूब देख लो। देखो कैसी बनी ठनी भाभी है, अच्छी हैं न ?

[श्री किशोरी जी ज्यों ही घूँघट का पट खोलती हैं, त्योंही उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि जैसे वे किसी दर्पण में अपने ही प्रतिबिम्ब को देख रही हों, हृदय स्नेहापन्न हो जाता है। श्री सिद्धिजी के नेत्रों में श्री किशोरीजू की प्रेमातिशयता से अश्रुओं की अजस्त्र–धारा बहने लगती है। शरीर रोमांचित हो जाता है। वे अपनी ननँद को अपने अंक मे लेकर हृदय का हार बना लेती हैं, कुछ बोल नहीं पातीं। साथ ही सयानी–माताओं का संकोच व लज्जा और भी हृदय को खुलने नहीं देती ! श्री किशोरी जी की अनुजाओं व सखियों ने भी भाभी के मुख चन्द्र की माधुरी एवं उनके राशि–राशि सौन्दर्य को देखकर अतिशयानन्द का अनुभव किया।]

श्री सिद्धिजी : (सासुजी को प्रणाम कर मन्द स्वर में) ये वसन–विभूषण तथा अन्य–अन्य सुखकर पदार्थ श्री किशोरी जू के भेंट में सादर समर्पित हैं। और ये वस्त्राभूषण उनकी बहनों और सखियों के लिये हैं। ये वस्त्राभूषण आपके लिये और ये वसन–विभूषण और–और राज परिवार की माताओं के लिये हैं। और ये वस्त्राभूषण दासी दासों के लिये हैं।

श्री किशोरीजू : अम्बाजी ! भाभी जी की दी हुई भेंट तो हम अपने हृदय से लगाकर अपने कक्ष में अपने पास रखेंगी, आपको रखने के लिये नहीं देंगी।

सुनैनाजी : अरी किशोरी ! तुम भेंट ही क्या, अपनी भाभी को ही हृदय से लगाकर सदा अपने पास रखो न । खूब रीझ गई है भाभी पर ! अब यदि मैं चाहूँ तो मेरी गोद में आने के लिये बुलाने पर भी भाभी को छोड़कर तुझे रुचिकर न प्रतीत होगा, क्यों? (प्रेम में पगकर, स्वगत –– ऐसी ही दोनों की प्रीति अमर रहे।) अच्छा ...तब तो मैं कलेऊ भी तुम्हें न दूँगी, भूख लगेगी तब तो माँ, माँ, कहती हुई आओगी ही।

श्री किशोरीजू: हम अपनी भाभी जी से कलेऊ ले लेंगी, है न भाभी जी ?

श्री सिद्धिजी : (मन ही मन मन्द–मन्द मुसकुराती हुई श्री किशोरी जू पर बलिहार जाती हैं। धीरे से . . .) हे लाड़िलीजू आपकी सेवा मिलने पर कोई अभागिनी ही उससे मुख मोड़ने में समर्थ हो सकती है।

[श्री किशोरीजी भाभीजी का हाथ पकड़कर, अपने कक्ष में वस्त्रादि बदलने को ले जाती हैं। वहाँ एकान्त पाकर दोनों का परस्पर निगूढ़

प्रेम-प्रवाह फूट पड़ता है । श्री सिद्धिजी अपनी अत्यन्त प्यारी ननँद श्री किशोरी जी को गोद मे लेकर खूब लाड़-लड़ाती हैं। श्री किशोरीजू अपनी भाभी के अत्युच्च-विशुद्ध प्रेम को अपने प्रति देखकर स्वयं को उन पर वार देती हैं।]

पटाक्षेप

....

द्वादशः दृश्य : १२

[श्री लक्ष्मीनिधि जी अपने शयन-कक्ष के रत्न जटित पलँग पर विराजे हुये हैं। वहाँ की श्री-शोभा अनुपमेय और अकथनीय है। जैसे मनोज से विनिर्मित वह भवन रस-पूर्ण रसिक-निवास हो। सोहाग-रजनी मनाने के लिये श्री सिद्धि कुँअरि जी लज्जा और संकोच के साथ मन्द-मन्द, पद-विन्यास करती हुई सुख, सुषमा और श्रृंगार की साकार-मूर्ति सी सदन में समुत्सुक प्रवेश करती हैं।]

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (देखकर, अमृत से भरी हुई तथा फूल बिखेरती सी प्रेममयी वाग्विसर्गता के साथ) आइये, आइये श्री राजकिशोरीजू ! इष्ट रात्रि के सुन्दर सुपर्व पर आप श्री को सर्व भावेन अर्हता के साथ अपने सम्मुख आते अवलोकन कर स्वागत के साथ समुत्सुक आपका मंगलानुशासन करता हूँ । इतने संकोच का प्रयोजन यहाँ नहीं, हम तो आपके शाश्वत साथी हैं, प्रिये !

श्री सिद्धिजी : (धीरे से) प्राणनाथ की करुणापूर्ण अवलोकनि एवं अहैतुकी कृपा ही तो प्राणनाथ के प्राप्ति का परमोपाय बनी है । दासी को अपनी ओर दृष्टिपात करने से तो संकोच ही लगता है प्रभो! कहाँ मेरी सर्व विधि अयोग्यता और कहाँ आप श्री के सर्व विधि कैङ्कर्य प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा। अस्तु दोनों को एक साथ लेकर चलने में लज्जा लगनी ही चाहिये।

[सनम्र, समीप में आकर श्री सिद्धिजी पति के श्री युगल पादपद्मों में सादर शिर रखकर, प्रणाम करती हैं और प्रेमाश्रुओं से पाद-प्राक्षालन करके उन्हें अंचल एवं आँखों के पलकों से पोंछ देती हैं। पुनः कर कमलों से सावधानी के साथ सहलाती हुई प्रेम विभोर होकर संकोच के साथ चुपके से चरण-कमलों का चुम्बन ले लेती हैं, मानो उन्हें आज उनका सर्वस्व मिल गया हो।]

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (सिद्धिजी के शिर को अपने कर-कमल से सस्नेह स्पर्श करते हैं, दोनों के हृदय में विद्युत-सी शुद्ध प्रेम की लहर दौड़ जाती है । निम्न-नयना सिद्धिजी के पाणि को पकड़कर ...) प्रियतमे! आओ और अर्द्धाङ्गिनी के अनुरूप उचित आसन को ग्रहण करो। तभी तो मुझे सुख और संतोष का अभूतपूर्व दर्शन होगा। अहो! स्वसुख का सत्य एवं शाश्वत से संश्लिष्ट सच्चा निर्माण अपने सच्चे साथी की सन्निधि से ही होता है।

श्री सिद्धिजी : प्यारे ! आर्य-वधुओं के परम्परानुसार मुझे अभी आपकी पूजन आरती करनी है, तत्पश्चात नाथ के सुख-सम्पादन में सदा संलग्न रहना इस किंकरी का स्वस्वरूप ही है प्रभो!

श्री लक्ष्मीनिधिजी : अच्छा, अच्छा आरती करलें आप! (मुसकान के साथ) मैंने तो आपकी आरती आपको देखते ही अपनी आँखों के प्रकाश रूपी प्रदीप्त बत्तियों से कर ली है।

श्री सिद्धिजी : (संकोच व स्नेह में भर कर) प्राणधन ! आप अपने कृपा-कटाक्ष से इस दासी की आर्ति को नहीं उतारेंगे तो कौन उतारेगा, मैं तो कब की आर्त्त हूँ। [युवराज के षोडषोपचार पूजन के पश्चात सिद्धि कुँअरिजी उनकी आरती, प्रदक्षिणा और प्रणाम करके मंगलानुशासन करती हैं।]

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (अपनी प्यारी के पाणि को पकड़कर पर्यंक पर अपने निकट बैठाकर) प्रियतमें ! आज आप सुखसम्बर्धिनी सौभाग्य-रजनी मनाने आई हैं। पति-पत्नी के अभ्युदय के लिये ही महान-महान मनीषियों ने इस रात्रि को विशेष मान्यता दी है, यों तो मैं आपकी आत्मा और आप मेरी आत्मा उसी दिन हो गई थीं, जिस दिन कोहवर कक्ष में मैंने, हम दोनों की आत्म ज्योति प्रतीकी प्रज्वलित उभयबत्तियों को एक में सम्मिलित किया था किन्तु और और आनन्द विवर्धन के हेतु कतिपय मेरे प्रश्नों का उत्तर देना आप सुकर समझें तो मै कुछ कहूँ?

श्री सिद्धिजी : जीवनधन के प्रश्नों का यथार्थ उत्तर दे सकेगी, ऐसी उच्चतम योग्यता दासी में कहाँ ? किन्तु बुद्धि की समझ के अनुसार आपकी आज्ञा को यह अवश्य शिरसा वहन करेगी पश्चात् वास्तविक बोध कराने के लिये बोध- विग्रह (पतिरेव गुरुः) आप श्री हैं ही।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : वैवाहिक जीवन का वास्तविक रहस्यार्थ क्या है प्रिये ?

श्री सिद्धिजी : नद और नदी दोनों के संगम का यथार्थ रहस्य यह है कि वे एक प्रबल धार बनकर भूमि-भाग, वन और बड़े बड़े पर्वतों को तोड़ते-फोड़ते हुये महाम्भोधि में मिल जाँय; अन्य प्रयोजन का तिरस्कार उनके मन में सहज ही व्यवस्थित रहता है। प्राणधन ! वैवाहिक जीवन का यही अर्थ समझी हूँ मैं।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : पति और पत्नी क्या हैं, प्रियतमे ?

श्री सिद्धिजी : प्राणनाथ ! आत्मबुध्या दोनों एक चेतन तत्व हैं किन्तु संकल्प से पति में पुरुषत्व और पत्नी में स्त्रीत्व प्रकृति के संयोग से स्वाभाविक है अर्थात पति के आत्मा की शक्ति ही जो पति के आत्म-तत्व से अपृथक है, साकार होकर पत्नी के रूप में विद्यमान होती है, जिसका एक मात्र प्रयोजन अपने मूल तत्व का अन्वेषण करने के लिये है। सरल अर्थ में जैसे शिव की शिवा, ब्रह्मा की ब्रह्माणी और विष्णु की वैष्णवी शक्ति हैं, वैसे ही अन्य पुरुषों की पत्नियाँ भी उनकी शक्ति हैं। अन्तर केवल ईश-जीव के स्वरूप भेद की तरह ईश-जीव की शक्तियों में भी अचिन्त्य और चिन्त्य का भेद है।

"यही वैवाहिक दाम्पत्य का आदर्श रहस्यार्थ रूप है, कि शिव में शिवा का आविर्भाव, शिव शिवानी के एकत्व बोध से परम शिवता की प्राप्ति ।"

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रेम प्रवर्धिके ! शक्ति और शक्तिमत् में तत्वतः कोई भेद का भाव भी भासित होता है या उनमें भेद का सर्वदा अभाव ही आलोकित होता है।

श्री सिद्धिजी : मेरे सर्वस्व ! शक्ति और शक्तिमत् पुरुष में सदा भेद का अभाव उसी प्रकार है जैसे अग्नि और उसकी दाहिकात्मिका शक्ति में एवं भगवान भास्कर और उनकी प्रभा में है। एक ही तत्व लीला के लिये दो नामों से सम्बोधित किया जाता है, तत्व-दर्शियों का सर्वमान्य यही सिद्धान्त है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : शक्ति स्वरूपा पत्नी, पति के अभ्युदय के लिये किस-किस प्रकार को लेकर प्रयोग करती है, प्रिया जू ?

श्री सिद्धिजी : अपने रूप और गुणों से पति को अपनी ओर आकर्षित करती है और पारतन्त्र्य को प्राथमिकता देकर अपनी सेवा, अनन्यता और प्रेम प्रक्रिया से परमार्थ-तत्व में श्रद्धा जागृत करने की प्रेरणा प्रदान करती है। इससे स्पष्ट है कि नारी, पुरुष की क्रियात्मिका प्रेरणा शक्ति और आत्माह्लादिनी शक्ति है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रियतमे ! दाम्पत्य यात्रा कहाँ से , किसके सहारे, किस गन्तव्य स्थान को होती है ?

श्री सिद्धिजी : प्रेय से उत्तरोत्तर सर्वश्रेष्ठ श्रेय की शुभ यात्रा है यह। पुरुष और नारी श्रेय की इस यात्रा में एक दूसरे के सच्चे साथी हैं दोनों का उद्देश्य एक-दूसरे को समुचित सम्यक् सहाय्य सामग्रियाँ प्रचुर रूप से प्रदान करते हुये गन्तव्य की ओर ले चलना है। यहाँ का भोग, भोग के लिये नहीं है, वह भी त्यागोन्मुख है, प्राणनाथ ।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिया जू ? प्रेय का स्पर्श क्या स्वाभाविक है ?

श्री सिद्धिजी : प्राणनाथ ! "स एकाकी न रमतें" मंत्र वाली श्रुति भगवती निर्देश करती हैं कि वह ब्रह्म आत्म-रमण होते हुये भी अकेलेपन से आनन्द का अनुभव न होने पर अपनी ही आत्मा को दो रूपों मे प्रकट कर रमण करने की इच्छा किया तो पति और पत्नी रूप में अपने को पाया। अस्तु, जीव-जगत में भी एकाकी न रमना स्वाभाविक है, क्योंकि कारण के अनुसार ही कार्य का निर्माण होता है जैसे गुलाब के सुगन्धित इत्र में पुष्पराज-गुलाब की ही सुगंध सर्व भाँति विद्यमान रहती है। यही कारण है कि प्रत्येक जागतिक जीवन में एक ऐसा अवसर अवश्य आता है, जब हृदय में एक कामना, एक पीड़ा, एक सिहरन समुत्पन्न होती है। कोई प्रेरणात्मक शक्ति प्रसुप्त को प्रबुद्ध करने के लिये उर-गृह की कुंडी को खटखटाती-सी है, मन को मीठी लगने वाली, प्यार करने और प्यार किये जाने की अत्यन्त उदार इच्छा उत्पन्न होती है। लगता है कि यह उभरता हुआ, उमड़ता हुआ जीवन, अकेले अपने लिये नहीं है। मन एकान्त में आतुर होकर कहता है कि, अहो यदि मेरे साथ कोई और होता। अस्तु, यह एक से दो और फिर दो से एक हो जाने की कामना सनातन, शाश्वत है। पहली से संसार का सृजन होता है और दूसरी से उसका तिरोधान हो जाता है। पहली से केन्द्र से परिधि छूटती है, दूसरी से परिधि केन्द्र में विलीन हो जाती है। यही जगत के भोग, एवं भोग से मोक्ष की ओर जाने का रहस्य है। इसी से मुनि पाताञ्जलीजी बोल उठे, "भोगापवर्गयोः" अर्थात जिस रसार्णव से प्रेम बिन्दु उद्‌भूत हुआ, उसी में उसका पुनः पहुँच जाना ही परम पुरुषार्थ है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : रस–सिन्धु से उद्‌भूत बिन्दु का पुनः वहीं पहुँच जाने का क्या अर्थ है, प्रिये ?

श्री सिद्धिजी ; वेद–वर्णित, रस–स्वरूप, परब्रह्म जो पति–पत्नी रूप में प्रतिष्ठित हुआ,जो जगत का निमित्त, उपादान और सहकारी कारण है, उसी से, उसी की इच्छा से उसी के आधार में समुद्र की लहरियों के समान संसार में अनेक पति–पत्नी रूप प्रकट हुये या यों कहिये कि वही अनेक पति–पत्नियों के रूप में प्रतीत होने लगा। वेदान्त–सिद्धान्त से वही श्रेय स्वरूप है। अस्तु, जागतिक प्रत्येक पति–पत्नी को प्रेय से उत्तरोत्तर श्रेय की ओर अनिवार्य रूप से जाना चाहिये अर्थात् अपने मूलभूत, पर स्वरूप पति–पत्नी (ब्रह्म–शक्ति) को प्राप्त कर यात्रा समाप्त कर देनी चाहिये। यही बिन्दु का समुद्र में सम्मिलित होने का अर्थ है, प्राणनाथ !

श्री लक्ष्मीनिधिजी : हे प्रिये ! प्रेय का यथार्थ अर्थ न समझने के कारण पति–पत्नी के दोष से उसमें विकृति आ जाने पर उस प्रेय और प्रेयाश्रयी की क्या स्थिति हो जाती है ?

श्री सिद्धिजी : प्राणनाथ ! प्रेय में विकृति आ जाने पर उस प्रेय–विकृत–तत्व को काम कहा जाता है, जो स्वसुख अर्थात् भव–सुख अपेक्षित होता है। विषयों के प्रति प्रवाहित होने से प्रेम की धारा जब दूषित हो जाती है, तब कामाश्रयी पति–पत्नी को श्रेय की संप्राप्ति न होने से शाश्वत, अनल्प और अमृतमय परमानन्द की अनुभूति से वंचित होना पड़ता है। वे केन्द्र का स्पर्श भी नहीं कर पाते, परिधि में ही पुनः पुनः परिभ्रमण करते रहते हैं अर्थात् संसार चक्र के अनुयायी ही बने रहते हैं।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रेय से उत्तरोत्तर श्रेय की ओर पति को पत्नी किस तरह ले जाती है, प्रियतमें ?

श्री सिद्धिजी : पत्नी त्याग की साक्षात् सुघड़ मूर्ति होती है। वह पति को सर्व भावेन आत्म समर्पण कर पति–सुख को ही अपना सुख समझती हुई, पति–मुख के विकास हेतु तदनुकूल चेष्टा करती है, क्योंकि प्रेम की उपादेयता सर्वात्म समर्पण में है और प्रेमास्पद के प्राप्ति की उपादेयता, प्रेमास्पद के आनन्द–विवर्धक कैंकर्य में है। साथ ही पति तथा पति–सेवा के वैभव का परिज्ञान रखती हुई, वह अनन्या पति–परायणा पत्नी अपने को पति की भोग्या समझकर भोग प्रदान करने की चेष्टा को भी अपने आनन्दानुभूति के लिये विचार नहीं करती अपितु पति–सुख के लिये। वह पति वियोग को किंचित सहने के लिये हृदय में स्थान नहीं रखती। प्राणनाथ ! पत्नी के इस परम त्यागमय, उदात्त जीवन के स्पर्श से पति का जीवन विशेष वितृष्ण एवं परम त्यागमय उसी प्रकार हो जाता है, जैसे किसी औषधि के स्पर्श से लोहा, स्वर्ण का स्वरूप धारण कर लेता है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रियतमे ! तब तो केवल पत्नी ही पति को श्रेय की ओर ले जाने की साथी सिद्ध हुई, पति पत्नी के लिये नहीं।

श्री सिद्धिजी : (शिर झुकाकर करबद्ध) नहीं नहीं प्राणनाथ ! ऐसा नहीं, पति रूपी पारस तो पत्नी को सुवर्ण न बनाकर पारस बना देता है। पति ही की तो पत्नी शक्ति है, पति के ही गुण तो उसमें विद्यमान हैं; पति ही का प्रकाश तो उसमें प्रकाशित हो रहा है।

पत्नी की सब प्रकार से रक्षा करने के कारण ही तो पति को पति कहा जाता है, प्रभो ! सत्पत्नी जब प्रेम की प्रतिमा बनकर अपना आत्म-समपर्ण पति को करती है, तो तत्क्षण् सत् पति भी अपना सर्वस्व पत्नी को समर्पण कर देता है; पत्नी के संवर्धित सुख को अपना सुख समझने लगता है। इस प्रकार एक दूसरे के उत्तरोत्तर त्याग को देखकर दोनों केवल अत्यन्त विषय वितृष्ण ही नहीं बन जाते वरन् त्याग और अलौकिक प्रेम की मूर्ति बनकर श्रेयातिश्रेय अगोचर तत्व को सहज ही संप्राप्त कर लेते हैं अर्थात् अपने उद्गम स्थान अपुनरावर्ती धाम में पहुँचकर पुनः वहाँ से लौटकर नहीं आते।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : हे राजनन्दिनी जू! पत्नी को आपने भोग्य वस्तु कहा और पति को भोक्ता, तो क्या पति अन्न पाने वाले के समान चेतन और पत्नी अन्न के सदृश जड़ होती है ?

श्री सिद्धिजी : हे राजनन्दनजू ! जब स्वसुख की कोई कामना ही नहीं रह गई, तो चेतन होते हुये भी अचित की तरह अचंचल पत्नी इस विषय में जड़वत ही है। वह वस्त्राभूषण धारण करती है, शरीर को सजाती है, सुखी रहती है, और पति-सुख पाने की चेष्टा भी कामिनी की भाँति करती है किन्तु यह सब व्यापार वह पतिसुख के लिए ही करती है, सकाम नहीं; वैसे विचार करने पर वास्तव में दोनों एक-दूसरे के भोग्य और भोक्ता एवं आश्रय और आलम्बन हैं। भेद केवल नैसर्गिक पुरुषत्व और स्त्रीत्व का तथा तदनुसार सदाचरण का है।पत्नी, पतिव्रता होती है तो पति स्व-पत्नी व्रत होता है। दोनों के यथार्थ प्रेम से परमात्म-प्रेम वृद्धिगत होकर परम प्रेमास्पद, परब्रह्म को प्राप्त कराने में समर्थ होता है।

श्री लक्ष्मीनिधि जी : दीर्घदर्शिनी जू ! जब पति और पत्नी दोनों निष्काम और आप्तकाम होकर श्रेयान्वेषण करने लगेंगे तो मैथुन-क्रिया के अभाव में सृष्टि सृजन कैसे सम्भव हो सकेगा ?

श्री सिद्धिजी : वेद-वचनों का गौरव रखने के लिये तथा पितृ-ऋण से मुक्त होने के लिये शास्त्ररीत्यानुसार, काम-भावना का परित्याग कर, लोक संग्रहार्थ स्वक्षेत्र में समय पर बीजारोपण करने से अधर्म स्पर्श नहीं करता वरन् परमार्थ-पथ में सहायता मिलती है। पुत्रोत्पत्ति के पश्चात् दोनों उर्ध्वरेता बन कर श्रेय को संप्राप्त कर वास्तविक सिद्धि का संभोग करते हैं। इस प्रकार से निरासक्त, निरहं और निर्मम होकर प्रेय का अनुभव आपत्तिजनक नहीं होता है, प्यारे।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्यारीजू ! आप में पत्नीत्व पूर्ण रूपेण विद्यमान है, इसी के यथार्थ जानकारी के लिये, मैंने उपर्युक्त प्रश्न किये हैं। आप पूर्ण बोध-विग्रहा, वैष्णवी-शक्ति के समान हैं। हृदय-हर्षिणी से समीचीन उत्तर प्राप्त कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है। सचमुच ऐसी नारी ही तो नर को नारायण बनाने में समर्थ होती है।

श्री सिद्धिजी : प्राणनाथ ! दासी को अत्यधिक बड़ाई दे रहे हैं, यह आपका आदर, औदार्य और बड़प्पन है। मुझ में जो कुछ है, वह आप श्री का है, आप से पृथक मेरी कोई सत्ता नहीं, जैसा आपको ज्ञान है, मेरे हृदय में स्थित होकर वैसी ही ज्ञान से भरी वाणी का विसर्ग करा देते हैं इसमें मेरी कौनसी महत्ता।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये ! मुझे प्रतीति हो गई कि आप अपने पति देव को प्रेय से उत्तरोत्तर श्रेय की ओर आकर्षित कर ले जायेंगी और मैं उस प्राप्तव्य परमतत्व को प्राप्त कर चिर सुख संप्राप्त करूँगा।

श्री सिद्धिजी : क्या कहा नाथ ने ? प्राणधान को कहाँ जाना और क्या पाना है। मेरे सर्वस्व ! आप तो श्रेय-स्वरूप सिद्ध महापुरुष हैं। मेरे प्रीतम ! आपको कुछ भी पाना अवशेष नहीं, हाँ ..दासी का कल्याण अवश्य ही आप श्री के चरणों की कृपा से सिद्धि को प्राप्त होगा। मैंने उपरोक्त बातें पथिकों के लिए कहीं हैं, जो पहुँच गये हैं, उनके लिए नहीं। उपदेश की बहुलावृत्ति अज्ञानियों के लिये होती है, ज्ञानियों के लिये नहीं।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : तो क्या आप....मुझे पथिक नहीं मानतीं प्रियतमें !

श्री सिद्धिजी : बिलकुल नहीं...मेरी माताजी के मौलिक और सुस्पष्ट, सत्य वचन सदा मेरे हृदय-पटल पर प्रांकित रहेंगे नाथ !

श्री लक्ष्मीनिधिजी : वे कौन से वचन हैं, प्रियतमें !

श्री सिद्धिजी : प्रियतम ! मेरी मैया ने मुझे बार-बार यही आज्ञा पतिव्रत धर्म के प्रशिक्षण काल में दी थी कि "तुम अपने पतिदेव को साक्षात् हरि भगवान समझना, इससे तुम्हें प्रेय के प्रांगण ही में श्रेय स्वरूप की सर्वतोभावेन संप्राप्ति हो जायेगी।"

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये ! यह तो सती, साध्वी, सन्नारी, का सहज धर्म ही है कि वह मिट्टी में देवत्व की प्रतिष्ठा करके अपनी आराधना से सर्वाराध्य श्रेयातिश्रेय तत्व को प्राप्त कर लेती है।

श्री सिद्धिजी : प्राणनाथ ने जो कहा, वह अक्षरशः सत्य है। पतिव्रता पत्नी आसुरी सम्पत्ति से संयुक्त पति को भी परम देवता समझकर परम पद की प्राप्ति कर लेती है किन्तु मुझे आप श्री में हठात् भाव आरोपित करने की आश्यकता नहीं पड़ी। आप तो स्वयं श्रेय स्वरूप हैं ही। आपके रूप, गुण, स्वभावादि वैभव इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। भगवान की गुणादि सम्पत्तियाँ जहाँ हैं वहीं तो भगवान हैं। ऐसा सत्-शास्त्रों का समवेत कथन सज्जनों से समादरणीय है, प्राणधन !

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रियतमें ! कुछ काल समीप रहने पर ही मनुष्य के शीलादि स्वभाव की यथार्थ परख होना सम्भव है। आप तो आज प्रथम ही मेरे पास आई हैं न !

श्री सिद्धिजी : प्राणधन ! आप्त पुरुषों के वचन परम प्रमाण हैं। प्रत्यक्ष में कदाचित भ्रम भी हो सकता है किन्तु महापुरुषों के वचनों में नहीं। पितृगृह में मुझे नारदजी जैसे महात्माओं से आप श्री की गुणगणावली श्रवण करने का सुअवसर मिला है। आप भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और योग के साक्षात् विग्रह हैं, परम भागवत हैं, प्रभु के परम प्यारे एवं स्वयं प्रेम स्वरूप हैं, जिनके आचार्य श्री याज्ञवल्क्यजी महाराज हैं, जिनका जन्म सहज आत्म-ज्ञानियों के कुल में हुआ है, जिन्हें वेद-विदित हमारे परम पूज्य श्वसुर देव के पुत्र बनने का सुअवसर मिला है और जिन्हें विदेह-वंश-वैजयन्ती श्री विदेहराज नन्दिनीजू के बडे भ्राता बनने का सौभाग्य संप्राप्त हुआ है, उनके गुण गणों का वर्णन शेष-शारदा भी नहीं कर सकते, मैं क्या करूँ? धृष्टता क्षमा हो नाथ ? जौहरी को हीरे के पहचानने में देर नहीं लगती। सूर्य को देखने मात्र से ही सूर्य का ज्ञान हो जाता है, उसे पहचानने के लिए दीपक हाथ में लेकर कुछ समय की अपेक्षा नहीं होती।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये ! तो आप हमें विवाह के पहले से ही जानती रहीं क्या ?

श्री सिद्धिजी : हाँ प्राणनाथ ! आपकी श्रवणामृत-कथा को प्रथम दिन श्रवण करते ही मेरी आत्मा आपको समर्पित हो चुकी थी। श्री महालक्ष्मी की आराधना आपके प्राप्त्यर्थ करने लगी थी। जीवनधन के प्रति किया हुआ पूर्व राग सहेलियों के बीच मुझे निर्लज्ज बना देता था।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये ! आपके रूप और गुण-वैभव की तथा शील स्वभावादि से संयुक्त परमा भगवद्भक्ति की चर्चा मुनि-मुख से सुन-सुन कर मेरा मन भी आप ही को अपना प्रेम प्रदान करने का परमेच्छुक बन गया था। भगवान ने हम दोनों की ऐहिक अभिलाषायें पूर्ण कर दीं। अस्तु, अब हम दोनों उनकी कृतज्ञता प्रकट करते हुये परमार्थ-पथ का शोधन करें और उन्हीं प्रभु के सुखार्थ, उनके कैंकर्य-परायण बन जायें ; यही एक अन्तर की आशा, आर्त, पुकार, कामना और क्रान्ति है।

श्री सिद्धिजी : प्राणनाथ ! आपके अनुरूप तो मुझ में कुछ भी गुण नहीं हैं किन्तु अपनी किंकरी समझकर इतनी कृपा इस अनधिकारिणी अबला पर की गई तो यह आपकी कृपालुता एवं साधु-स्वभाव से सम्पन्न हृदय की उदारता है। दासी की आध्यात्मिक-अन्तर्यात्रा आपका संग प्राप्त कर सुचारु रूप से शीघ्र सफल होगी, ऐसी अपनी परम प्रतीति है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये ! एक रहस्यमयी वार्ता आपसे और पूँछनी है, वह यह है कि हमारी श्री किशोरी जी के वैशिष्ट्य और वैलक्षण्य के विषय में आपको कैसा ज्ञान है। उनके दर्शन से वह ज्ञान सत्य प्रतीत हुआ कि नहीं ?

श्री सिद्धिजी : प्राणधन ! मैंने मायके में आपके स्वप्न-दर्शन के साथ आप श्री की अनुजा का भी दर्शन किया था। वह स्वप्न अलौकिक और अनिर्वच था। मैंने साक्षात् ब्रह्म-स्वरूपिणी श्री किशोरी जू को उमा-रमा-ब्रह्माणी सहित त्रिदेवों से सेवित देखा था, अपने प्रकाश से सबको प्रकाशित कर रही थीं वे ! सम्पूर्ण शक्तियों की अधीश्वरी, सर्वेश्वरी सीता आपके क्रोड़ में विलास करती हुई कही थीं कि "तुम मेरी भाभी बनोगी न ?" इतने में मैं जग गई। जीवनधन ! यही बात श्री नारदजी महाराज ने मेरे पिताजी से श्री किशोरीजी के वैभव को सुनाते हुये एकान्त में कही थी। आपके साथ मेरा पाणिग्रहण होने की प्रेरणा भी देवर्षि नारद ने ही दी थी। तभी से मैं आप में अनुरक्त होकर आपके सम्बन्ध से श्री भूमि-नन्दिनीजू की प्राप्ति के लिये अत्यन्त आकर्षित एवं लालायित हो उठी थी। विधि-विधान से सुफल मनोरथा होकर उनके दिव्य-दर्शन से कृतकृत्य हो गई। मैंने पूर्वज्ञान को अक्षरशः सत्य पाया। मेरा स्पर्श करके वे मेरे हृदय में समा गई हैं, नाथ ! यही कारण है कि अस्मिता का अस्तित्व अपने आप बुद्धि से विलग होकर न जाने कहाँ खो गया। अहं रूपी पिशाच के विनष्ट हो जाने पर ममता रूपी पिशाचिनी अपने पति के साथ स्वयं जल गई तथा माता-पिता के बिना उनके राग-द्वेष नामक दोनों शिशु भी भोजन की अप्राप्ति से काल के कवल बन गये। अब केवल सीता स्वरूपिणी शान्ति ही का साम्राज्य शेष है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रियतमे ! हमारे कुल के उत्तारक दीर्घ दर्शी ज्ञान-गुरू श्री याज्ञवल्क्यजी महाराज का कथन है कि ये श्री किशोरीजी उद्भव, पालन और संहार कारिणी अचिंत्य, अनादि-शक्ति हैं, जो पूर्णतम परब्रह्म से अपृथक हैं। दाऊजी की तपस्या तथा प्रेम के परवश होकर ही यज्ञ-भूमि से प्रकट हुई हैं। इसी प्रकार पूर्णतम-परब्रह्म जिनके अंश से अनन्त ब्रह्मा-विष्णु-महेश

उत्पन्न हुआ करते हैं, वे अयोध्या में श्रीमान् चक्रवर्ती दशरथजी महाराज के यहाँ अवतरित हुये हैं। समय आने पर दोनों का परस्पर परिणय होगा अर्थात् जिसे आपने कहा कि वह ब्रह्म एकाकी न रमने के कारण पति–पत्नी रूप हो गया, वही श्रेय स्वरूप दशरथ–नन्दन और जनक–नन्दिनी हैं।

प्रिये ! हमारे गुरुदेव के वचन कभी असत्य नहीं हो सकते। इस रहस्य के वेत्ता अन्य मुनि भी हैं, जो दीर्घदर्शी और त्रिकालज्ञ हैं। हमारे श्रीमान् पिताजी से सभी लोग एकान्त में चर्चा किये हैं।

श्री सिद्धिजी : यही बात देवर्षि के मुख से कही हुई मैं भी सुन चुकी हूँ। प्राणनाथ! कितनी कृपा कृपासिन्धु की है कि हमें वे अपनी कहेंगे। अहा.... (कहकर प्रेम विभोर.....मूर्छित दशा की स्थिति में....)

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (यत्नपूर्वक सचेत करके) वास्तव में प्यारी ! तुम प्रेम की सर्वाङ्गीण साक्षात् प्रतिमा हो। तुम्हारे प्रभु–प्रेम से प्रसन्न मैं अब, अपना न रहा। सब प्रकार से अनंत के अनुरागिणी का हो गया। प्रिये ! हम दोनों एक मन, एक तन, एक प्राण और एक आत्मा होकर इन्हीं युगल–मूर्ति श्री सीतारामजी महाराज के श्री चरणों का आश्रय ग्रहण करें। इन्हीं के कर–कमलों की छत्र–छाया में सुरक्षित रहकर अभयी बने रहें। इनके उत्फुल्ल श्री मुख के दर्शन को ही परम भोग्य समझते रहें अर्थात् इनमें अत्यन्तासक्त होकर इन्हीं के सुख को अपना सच्चा सुख समझते हुये इनकी इच्छानुसार इन्हीं के आश्रय में रहना और इन्हीं के सुख के लिये इनके सब प्रकार के कैंकर्य को करना परम पुरुषार्थ समझें। प्रियतमे ! यह कामना ठीक है न ?

श्री सिद्धिजी : प्राणनाथ का सिद्धान्त सर्वथा उच्चातिउच्च प्रभुप्रेमी जनों के सर्वाङ्गानुकूल है, यही कर्म, ज्ञान, भक्ति, प्रपत्ति और आचार्यभिमान का चरम फल है, यही परम परमार्थ है किन्तु इसे इन्हीं श्रेय स्वरूप युगल–मूर्ति की कृपा से ही पाना सर्वभावेन संभव हैं, साधन से नहीं। यथार्थ साधक की कसौटी उसकी ऐहिक सिद्धियाँ नहीं हैं, उसकी अनुसंधित्सा है, भगवत्–कृपा। सिद्धि की कसौटी है, भगवत्प्रेम की प्रगाढ़ता ! प्राणेश्वर पर तो परमेश्वर की भगवती भास्वती कृपा का भरपूर साक्षात् हो रहा है। अस्तु, नाथ को कुछ पाना अब शेष नहीं है। "रही मैं" इसलिये दासी परम भागवत पति–परमेश्वर की ही शरण ले रखी है, यह त्रिकरण आपकी शेष, भोग्या और रक्ष्य वस्तु है। आप से अतिरिक्त मैं और मेरा कुछ नहीं है। नाथ ! जैसा चाहें इसे बना लें, आपका संकल्प अन्यथा न होगा। मुझे विश्वास है कि आपकी इच्छा मेरी इच्छा होगी, आपका सुख मेरा सुख होगा। आपके साथ परमार्थ सेवन का मनोरथ पूर्णता को प्राप्त होगा। प्राणनाथ को प्राप्तकर मैं कृत कृत्य हो गई। आपके कैंकर्य के अतिरिक्त अब किङ्करी को कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि स्वप्रयोजन की प्रतिपत्ति की निवृत्ति ही दासी का सहज स्वरूप हैं।

[कहकर श्री सिद्धिजी पति–पद–पद्मों में शिर रखकर सप्रेम भर जाती हैं। प्रेमाश्रुओं से प्राक्षालित–चरणों में लिपट जाती हैं।]

श्री लक्ष्मीनिधिजी : [बड़े स्नेह से दोनों करों को खींचकर अपने अंक में सिद्धिजी को लेकर परम प्यार से सराबोर करके एकात्म–भाव को प्राप्त हो गये। दोनों अपने

को भूल गये, पति-पत्नी, पति-सेवा के भाव का विलीनीकरण हो गया। प्रेम ही प्रेम, आनन्द ही आनन्द रह गया। कुछ देर में चेतनायुक्त होकर....]

प्रियतमें ! अपनी अनुजा श्री किशोरीजू का तथा भावी-भाम श्रीरामजी महाराज का गुणगणानुभव [भगवदनुभव] हम दोनों का धारक हो, युगल-मूर्तियों के सुखार्थ उन्हीं का कैंकर्य पोषक हो और उन्ही का विकसित मुखाम्भोज भोग्य हो। बस यही हमारा और आपका सौभाग्य है। आज की रात्रि से [प्रथम भेंट से] हम दोनों का यह दृढ़ संकल्प हो जाना ही सौभाग्य-रजनी मनाना है। हम दोनों की दाम्पत्यानुरक्ति तथा शास्त्रोचित सुन्दर व्यवहार भी उन्हीं की प्रसन्नता के लिये हों। स्वसुख की आशा-पिशाचिनी प्रेम-सुख का शोषण न करे।

श्री सिद्धिजी : [परम प्रीति से युक्त प्रीतम के हृदय से आलिंगित] हे प्राण प्रीतमजू ! मैं कितनी भाग्य शालिनी हूँ, जो अपने प्राणधन का इतना अत्यधिक प्यार पा रही हूँ। जीवन धन ! मेरे हृदय की इच्छा को ही मानों अपने श्री मुख-विनिस्सृत वचनों से व्यक्त कर रहे हैं। मैं तो छायावत् आपकी अनुगामिनी हूँ। आत्माभिमान, साधना-जगत का दारुण प्रत्यूह है, अस्तु परमार्थ-पद की गवेषिका सिद्धि आपकी अनुचरी बनी है। प्रियतम जो चाहेंगे वही होगा।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : राजकुमारी जू ! रात्रि अधिक व्यतीत हो चुकी है। अब हम लोगों को स्मरणीय-तत्व का स्मरण कर सो जाना चाहिये।

[प्रेम-मूर्ति श्री लक्ष्मीनिधिजी सिद्धिजी के साथ एक ही पर्यंक पर प्रेममयी-चेष्टाओं के साथ आलस्य से भरे निद्राधीन हो जाते हैं।]

पटाक्षेप

\- - - - - -

त्रयोदशः दृश्यः १३

[श्री सिद्धिजी अपने महल में सिंहासनासीन हैं। दासियाँ, सखियाँ, सेवा में समुपस्थित हैं। श्री किशोरीजू के चारु-चरित्रों का पद्य-बद्ध संगीत शास्त्रानुसार गायन हो रहा है। समाज के सहित श्रीधर-कुमारी श्रवण कर आनन्द मग्न हो रही हैं।]

पद : सखि लखु शत शशि विजित वरानन।
रती रमोमा वारहिं कोटिन, सियजू के मुख के ध्यानन।
भ्रात अंक में बैठि चपल चित, पावति मोद अमानन।
कहुँ गावति दै निज करतारी, शुद्ध स्वरन के तानन।
हर्षण हर्षित सुमन सुवर्षहिं, सुर गण लखत शुभानन।

[पद समाप्ति के अनंतर बाहर से एक दासी आकर कर-बद्ध संदेश सुनाने लगी।]

दासी : हे कुँअर बल्लभे ! भाभी से मिलने की त्वरा में आप की ननँद श्री विदेहराज नन्दिनीजू, चन्द्रकलादि प्रधान-प्रधान सहेलियों के साथ आपके समीप आ रही हैं।

श्री सिद्धिजी : अरी दासी ! शीघ्र आगे चलकर सादर उन्हें यहाँ ले आओ।

[दासी जाती है। स्वयं सिद्धि कुँअरिजी आतुरता से आसन से उठती हैं, आगे चल कर ससमाज श्री किशोरीजू को स्नेहापत्र होकर मिलती हैं, पुनः गोद में श्री लाडिलीजू को बैठाकर विभोर बनी प्यार करती हुई आसन में विराजती हैं। प्रकृतिस्थ होकर स्वयं पुष्पमाला मुक्ताहार, पान-गंधादि से सखियों समेत श्री किशोरीजू का सत्कार कर नीरांजन और मंगलानुशासन करती हैं।]

श्री किशोरीजी : भाभी जी ! आप ऐसी आर्या, सर्वगुण-सम्पन्ना पुत्रवधू को प्राप्त कर हमारी मैया और दाऊजी प्रसन्नता से फूले नहीं समाते। भैया की तो सच्ची जीवन-संगिनी ही हैं, अपने अनुरूप आपकी प्राप्ति उन्हें अत्यन्त आनन्दित बनाये रहती है। मैं अपनी क्या कहूँ ! मुझे लगता है कि आप मैं ही हूँ और मैं आप ही हो अर्थात् मुझे आप अपनी आत्मा से अभिन्न प्रिय हैं। जी चाहता है कि आपको देख-देख कर ही जीऊँ।

श्री सिद्धिजी : मेरी हृदयेश्वरी श्री लाड़िलीजू ! आपके यहाँ सम्बन्ध होने के पहले ही आपके विषय की चर्चा श्री देवर्षि नारदजी से सुन कर मैं आप में अनुरक्त हो गई थी। दर्शनों के लिए लालायित थी। स्वप्न में आप श्री का संयोग, मेरे विरह-वह्नि को और-और विवर्धित करता जाता था। आपकी कृपा प्राप्त करके आपके मुखाम्भोज को विकसित करने वाला आपका अहर्निशि कैंकर्य करने के लिये ही तो मैं आपके परम भागवत भैया की किंकरी बनी हूँ, किशोरीजू।

श्री किशोरीजी : भाभी जी ! हमें अत्यन्तानन्द प्रदान करने वाले कैंकर्य को आप समझती हैं क्या ? हमारे भैया को परमैकान्तिक परमानन्द की परमानुभूति जिस प्रकार से आपके द्वारा उपलब्ध हो सके, बस वही हमारा कैंकर्य है। समझ गईं न ?

श्री सिद्धिजी : आप श्री के श्री भैयाजी का कथन है, "जिस प्रकार से हमारी लाड़िली श्री किशोरी जी सुखी रहें, तुमको उनका वही कैंकर्य करना, हमारे सुख का श्रेष्ठतम साधन होगा।"

श्री किशोरीजी : भाभी जी ! बिलकुल ठीक, भैयाजी की सेवा अत्यन्तासक्ति के साथ स्वसुख का परित्याग कर प्रसन्न मन से करती रहें, बस हमको आनन्द ही आनन्द।

श्री सिद्धिजी : (दुलार करती हुई) धन्य, धन्य, आप दोनों भ्रातृ-भगिनी की इस अलौकिक प्रीति को। धन्य है, परस्पर के परम त्याग को। मैं तो दोनों को पाकर कृतकृत्य हो गई, किशोरी जू !

श्री किशोरीजी : भाभीजी ! हमारा इतना प्यार आप अपने आनन्दाप्ति के लिए करती हैं क्या ?

श्री सिद्धिजी : न, न किशोरीजू ! आपके प्रति मेरा स्नेह, स्नेह के लिये है। अनन्य प्रयोजन वाली, आपकी भाभी की एक मात्र कामना है कि भाई-बहन दोनों के प्रति मेरा पगला प्रेम, निर्मल प्रेम दिन-दूना, रात-चौगुना विवर्धमान होता रहे, अन्य मुझे कुछ भी न चाहिये। आप युगल-मूर्ति के मुख-श्री को प्रतिक्षण आनन्द से ओत-प्रोत अवलोकन करती रहूँ, यही मेरा परमानन्द है, लाड़िलीजू !

श्री किशोरीजी : (प्रेमापन्न होकर श्री सिद्धिजी के गले से लिपट कर) अच्छा भाभीजी ! हम और आप परमैकान्तिक सुख को परस्पर आदान-प्रदान करती रहें, मात्र यही कामना है मेरी !

श्री सिद्धिजी : अहा....मुझ पर इतनी कृपा ! इतना स्नेह ! इतना अपनत्व ! अब मुझे सर्वेश्वरी के सम्बन्ध से तथा उनके इस प्रकार किये गये, सत्य संकल्प के अनुसार क्या पाना अवशेष रह गया, सब पा चुकी मैं ! बलिहारी, बलिहारी, बलिहारी श्री किशोरीजू की।

श्री किशोरीजी : (मुस्कुराती हुई) भाभी जी ! केवल बलिहारी कहने से काम नहीं चलेगा। मुझे भूख लगी है भूख, कुछ पवाइये न।

श्री सिद्धिजी : लाड़िलीजू ! देखिये, दासी आपके सम्मुख करबद्ध कब से खड़ी प्रतीक्षा कर रही है कि मुझसे बात समाप्त कर आप भोजन करें।

श्री किशोरीजी : अच्छा चलें।

(कहकर, सभी बहनों व सखियों समेत जाती हैं। श्री सिद्धिजी के कर-कमलों से परोसे हुये भोग को पाकर, पुनः ताम्बूलादि ग्रहण करके कहती हैं।)

भाभीजी ! भेंट में हमें आपने बहुत-बहुत साधन प्रदान किया है, अपने पास कुछ नहीं रक्खा क्या ?

श्री सिद्धिजी : हे श्री राजकिशोरीजू ! हमने आप ही की वस्तु आपको अर्पण की है क्योंकि आत्मा सहित आत्मसम्बन्धित सभी वस्तुयें स्वयं सहज आप श्री की हैं। अकिञ्चना के पल्ले तो अकिञ्चित था किन्तु आपसे स्वयं आप श्री को प्राप्त कर उभय विभूति की मालकिन बन गई हूँ। आप जैसी ननंद के मिल जाने से मेरे पास अब क्या नहीं है। लाड़िलीजू !

श्री किशोरीजी : भाभीजी ! मुझे तो आप से प्यार पाने और प्यार करने की बडी प्रबल इच्छा होती है। क्यों ? कारण कहियें न......मेरा आन्तरिक और वाह्य-जगत का जीवन, आप और अपने में मात्र अन्तर की कल्पना करने से असहिष्णु और असमर्थ प्रतीत होता है।

श्री सिद्धिजी : हमारी लाड़िली ननँद स्वजन में स्व का दर्शन करनेवाली प्रेम की प्रतिमा है इसलिये। मुझे तो ऐसा लगता है किशोरीजू, कि आप अपनी भाभी से स्नेह करें या न करें किन्तु भाभी का निष्काम प्रेम, प्राण प्रियतमा ननँद के प्रति क्षण-क्षण, नव-नव विवर्धमान होता हुआ, कभी इति को न प्राप्त हो।

श्री किशोरीजी : (उठ कर स्नेहापन्न भाभी की गोद में बैठकर प्रेम के सात्विक चिन्हों से सम्पन्न हो जाती हैं। सिद्धिजी भी प्रेमाश्रुओं से उनका सिंचन करती हुई हृदय से लगाकर प्यार करती हैं।)

भाभीजी ! हमारा सुखकर-अत्युत्तम-आसन तो आपका अंक ही है।

श्री सिद्धिजी : हे श्री किशोरी जू ! मैं तो आपका आनन्द वर्धनीय-संस्पर्श करती हुई, आप श्री को अंक में लेकर अपनी नहीं रहती, न जाने उस परमानन्द में सुधि-बुधि कहाँ प्रस्थान कर जाती है और मैं क्या की क्या हो जाती हूँ। केवल आप ही आप रह जाती हैं।

श्री किशोरीजी : भाभीजी ! आपके इन्हीं श्रेय गुणों के कारण तो हमारा निमिकुल आप पर परम प्रसन्न है। मुझ पर तो आपका स्नेह भैया जी से कम नहीं वरन अधिक ही है।

श्री सिद्धिजी : लाड़िलीजू ! मेरे हृदय से तो आपके भैयाजी का ही स्नेह विनिस्सृत होता है क्योंकि आपकी इस भाभी के उरस्थली में प्राणधन को छोड़कर एक क्षण के लिये भी कोई प्राणी–पदार्थ और परिस्थिति के चिंतन की कौन कहे आत्म स्मरण भी नहीं होता। सर्वदा सर्वभावेन एक वही प्रतिष्ठित हैं, अस्तु मुझ में जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है, वह श्री किशोरीजू के भैया का ही प्रभाव व प्रकाश है।

श्री किशोरीजी : आपके अनुकूल ही आपका कथन है, भाभीजी ! आप दोनों एक ही हैं किन्तु हमें तो यह चाहिये कि दो स्नेह की अमृत–धारायें दो स्रोतों से इसी प्रकार नित्य निकल–निकलकर अमरता का अनुभव कराती रहें, जिससे हम आजीवन इस प्रेम–पय को पी–पीकर परम तृप्ति की अनुभूति करती रहें। क्यों चन्द्रकलाजी, बात ठीक है न ?

चन्द्रकलाजी: श्री राजनन्दिनीजू के विशुद्ध–विचार हम लोगों को भाभी और भैया के प्यार–पय से पलने के लिये ही उद्‌भासित हो रहे हैं। जय हो स्वामिनीजू की, जय हो।

चारुशीलाजी : हम सब जैसा आकाश के नीचे और किसका भारी भाग्य होगा, किशोरीजू ! हम तो कहती हैं कि हमारे जैसे, भैया और भाभी जब उमा–रमा और ब्रह्माणी को भी अप्राप्त हैं तो अन्य देवी, गन्धर्वी, किन्नरी, यक्षी और मानुषी की कौन कहे।

(किशोरीजी सहित सब सखियाँ उल्लास में भरकर अपने भाग्य वैभव की सराहना पद–गायन द्वारा करती हैं।)

पद : सखीरी, भाग विभव हमरे अधिकान।
भाभी–भैया हमहिं मिले जस, रूप–शील–गुण–ज्ञान निधान ।
सुख–सुषमा श्रृंगार की मूरति, प्रेम पूर्ण हरि–भक्त महान ।
तस दुर्लभ विधि–हरि–हर नारिन्, मानहु मोरे वचन प्रमाण ।
अपने प्यार पयोनिधि बोरे, करत सदा सुख प्रद सम्मान ।
हमरे सुखहि स्वसुख करि जाने, अनुजा–इच्छा इच्छा मान ।
जोगवत रहत अहर्निशि हम कहँ, परम प्रसन्न भूलि भव–भान ।
हर्षण जुग–जुग जीवैं भ्राता, भाभी सहित बने रस खान ।

श्री किशोरीजी : भाभीजी ! आपके पास से जाने की इच्छा मन में होती ही नहीं। लगता है कि आपके हृदयाकाश से उद्‌भूत प्रेम गंगा में गोते लगाती ही रहूँ किन्तु अम्बा के समीप जाने का मेरा समय हो गया है अस्तु आज्ञा दें तो चलें... ।

श्री सिद्धिजी : मेरी लाड़िलीजू ! मेरी आँखों से ओझल होकर कभी अन्यत्र न जाँय। आपके जाने से मैं कुछ न रहूँगी। हाँ, वाह्य दृष्ट्या आपकी इच्छा में मेरी इच्छा... ।

(सिद्धिजी, किशोरीजी सहित उनकी सब सखियों का सम्मान व प्यार करके विदा देती हैं।)

पटाक्षेप

(श्री विदेह राजनन्दिनीजू संगीत-शाला में अपनी सखी-सहेलियों के साथ संगीत-रसानुभव कर रही हैं। नृत्य गीत और वाद्य की वास्तविक मधुरिमा से ओत-प्रोत उस संगीत-सदन का संस्पर्श सात्विक और शाश्वत सुख का संदेश-सा देता हुआ प्रतीत हो रहा है।)

श्री किशोरीजी : चन्द्रकले ! आज श्री भाभीजी को संगीत-सदन में आने का आग्रह हमने अत्यन्त रुचि के साथ किया था। अभी तक वे नहीं पहुँच रही हैं। क्या वे आकर अपनी लाड़िली ननँद के उत्तम उल्लास को वृद्धिंगत नहीं करेंगी ?

चन्द्रकलाजी : नहीं, नहीं, किशोरीजू ! हमारी भ्रातृ-वधू जी अवश्य आकर आपके उत्साह को उन्नतशील बनायेंगी। वे तो आपके आनन्द में ही आनन्द का अनुभव अहर्निशि किया करती हैं। श्री भैयाजी से आपके चारु-चरित्रों की चर्चा करके अपने को भूल गई होंगी वे किन्तु स्मरण आने पर आतुरता के साथ आयेंगी अवश्य !

दासी : श्री विदेहराज नन्दिनीजू के जीवन की जय-जयकार हो...

श्री किशोरीजी : कहो दासी क्या समाचार है, मुख पर परम प्रसन्नता के चिन्ह प्रकट हो रहे हैं।

दासी : आपकी भाभी श्री सिद्धि कुँअरिजी अपनी सखियों व दासियों से समावृत होकर संगीत-सदन की प्रथम कक्षा में प्रवेश कर चुकी हैं, श्री किशोरीजू !

श्री किशोरीजी : सखियों ! जायें आप लोग, भाभी जी को सादर ले आयें। (स्वयं आगे चलकर श्रीधर कुमारी से बड़ी विनम्रता, शीलता और भावुकता के साथ प्रेम-विग्रहा विदेहराज नन्दिनीजू मिलती हैं। श्री सिद्धिजी भी अपने स्नेह और प्यार से श्री किशोरीजू का गाढालिंगन चुम्बन करती हैं। श्री किशोरीजी, भाभी जी के कर-कमल को पकड़े हुये लाकर सिंहासन में बिठा देती हैं। और स्वयं कूदकर उनकी गोद में बैठ जाती हैं। दोनों गले लगकर स्नेहासक्त हो जाती हैं। दासियों के नयन-चकोर उन युगल-चन्द्र के दर्शन से तृप्त नहीं हो रहे हैं तथापि धैर्य धारण करके मधुर-मधुर भाभी व ननँद की आरती उतार कर दासियाँ दोनों का मंगलानुशासन करती हैं।)

श्री किशोरीजी : भाभी जी ! आज आप अपनी ननँद के उत्साह को बढ़ाने के लिए संगीत-शाला में पधारी हैं, यह आपका औदार्यपूर्ण अहैतुक और अतिशय दुलार है।

श्री सिद्धिजी : मेरी ललीजू का सुख ही तो मेरा सुख है। अस्तु उसी आनन्द के अर्जन हेतु आपका कैंकर्य करने समुपस्थित हुई हूँ, लाड़िलीजू !

श्री किशोरीजी : भाभी जी ! आप संगीत-कला-कुशला हैं, अस्तु हम लोग आपके सम्मुख गन्धर्वीय-विद्या का प्रदर्शन कर अपनी त्रुटियों का संशोधन करें और आप श्री के मुख-विनिस्सृत, अमृतमय, मधुरातिमधुर संगीत को श्रवणकर आपकी ननँदें परमानन्द का अनुभव करें, ठीक है न ?

श्री सिद्धिजी : लाड़िलीजू ! क्या कह रहीं हैं, आप ! आपके साधारण पद-न्यास से नूपुरों की ध्वनि तो सामवेद के सुमधुर-शब्दों को भी विलज्जित करती है, यदि कहीं आप वंशी या वीणा लेकर सुन्दर मनोहारि-मधुर-मुख से मधुर-मधुर गायन करें, तो नहीं जानती कि वह संगीत-सुख श्रवणवन्तों की क्या से क्या दशा उत्पन्न कर

देगा। नृत्यपूर्वक संगीत की तो कल्पना करके ही मैं प्रकृतिस्थ नहीं रह पाती। श्रवण और दर्शन से न जाने किस अवस्था का आलिंगन करना पड़ेगा।

श्री किशोरीजी : भाभी जी ! हम लोगों का बाल-नृत्य है। कहाँ तक इसमें सत्यता से भरी सरसता होगी। हाँ, आप बड़ी हैं, माता-पितादि गुरुजन बालकों की तोतली वाणी ही को सुनकर सुख का समनुभव करते हैं, यह उनका वात्सल्य है।

श्री सिद्धिजी : लाड़िलीजू ! कृपाकर अब मेरें अतृप्त कर्णों को अपनी संगीत सुधा का पान कराकर भूँखी की भूख को भगायें न ?

श्री किशोरीजी : अच्छा चन्द्रकला जी ! हम लोग प्रथम संगीत का श्री गणेश करें तत्पश्चात् भाभीजी अपनी अनोखी गन्धर्वीय-विद्या से हम सबका मनोरंजन करेंगी।

चन्द्रकलाजी : आज्ञा शिरोधार्य है, श्री राजकिशोरीजू !

(वीणा लेकर श्री चन्द्रकलाजी अपने सुमधुर कंठ से संगीत सुनाने लगीं।)

पद : मधुकर ! कमल कली मकरन्द भरी ।
क्यों नहिं आय पिये मधु लोभिया, रस की मूर्ति खरी ।
बीते समय आय का करिहैं, जब वह मुरझि झरी ।
कब से रही राह तव देखत, गिन रही मिलन घरी ।
हर्षण हृदय अनँद की आशा, जियन उपाय वरी ।

[उस सुखावह रस प्रदान करने वाले संगीत ने सभी के चित्त को आत्मसात कर, समाधिस्थ कर, आनन्द विभोर बना दिया। गीत समाप्ति के अनंतर सखियों के सहित श्री सिद्धिजी प्रकृतिस्थ हुई।]

श्री सिद्धिजी : धन्य चन्द्रकलाजी ! आपके वीणा-वादन को। यदि सरस्वतीजी कहीं श्रवण कर लें, तो निश्चय है कि वे विलज्जिता वाणीजी आपसे वीणा सीखकर, वीणा-प्रशिक्षिता बनने का प्रयास करेंगी।

चन्द्रकलाजी : (संकोच के साथ) भाभीजी ! मुझ को सुन्दर ढँग से बजाना कहाँ आता है। यह जो कुछ आप सुनीं, वह कृपालुनी श्री किशोरीजी की कृपा का परिणाम है।

श्री सिद्धिजी : (इसी तरह और-और सखियों के संगीत को सुनकर) अच्छा श्री किशोरीजी ! अब आपकी बारी है। संगीत सुनाइये.......।

श्री किशोरीजी : बहुत अच्छा भाभीजी ! मैं एक भजन गाती हूँ।

[रंगमंच पर बैठी हुई कनकोज्वला कान्ति से अग्नि-शिखा के समान, सभा को प्रकाशित करती हुई श्री किशोरीजी वीणा हाथ में लेकर गीत प्रारम्भ करती हैं। उनकी मन-मोहिनी, मधुर-मधुर वाणी का विकास बड़ा ही आकर्षक है।]

पद : नैना प्रभु दरशन के प्यासे।
निरखन चाहें मदन-मोहन को, अहनिशि रहत उदासे ।
तिन कहँ छोड़ न देखत कोउ कहँ, जग से रहत निरासे ।
हमरी उनकी प्रीति पुरानी, नेह नगरिया वासे ।
हर्षण हैं हरि अन्तर्यामी, पुरि हैं उर अभिलाषे ।

[श्री किशोरीजू के श्री मुख से निकली हुई संगीत–सुधा को श्रवण–पुटों से पान करते ही श्री सिद्धिजी प्रभु–प्रेम से विह्वल मूर्छावस्था को प्राप्त हो जाती हैं। श्री लाड़िलीजू उनके शिर को अपने अंक में लेकर, जल–सिक्त अपने करों से मुख तथा नेत्रों का स्पर्श कर उपचार करती हैं। कुछ देर में प्रकृतिस्थ अपनी भाभी को देखकर परम प्रसन्न होती हैं।]

श्री सिद्धिजी : (स्नेहयुक्त अपने हृदय से किशोरीजू को लगाकर....) लाड़िलीजू! आप गाती क्या हैं, वज्र को मोम बनाती हैं। अहा... गाते समय आपके हिलते हुये अरुणिम–अधर–पल्लवों से युक्त श्री मुख की कमनीय कान्ति तो अनूठी ही थी। किसी भी चन्द्रादि प्राकृतिक प्राणी–पदार्थों से उपमा देना उपमेय के अनुरूप न होने से मुझे बिलकुल रुचिकर नहीं लगता। आप जैसी परिमार्जितवाणी की मधुरता तो मैंने आज तक सुनी ही नहीं। संगीत–ज्ञान के साथ उसमें रस पैदा कर देने की क्षमता हमारी श्री किशोरी जी के अतिरिक्त और किसी देवी–देव में नहीं। अहा हा...। वीणा के तारों पर कर–कमलों की कोमल–कोमल अंगुलियों का फिरना तो साक्षात् लक्ष्मीजी के मन को भी मुग्ध कर देने वाला है। फिर वीणा से मिली हुई कोकिल–कंठ की आवाज को सुनकर तो जड़, चेतन और चेतन, जड़वत–प्रतीत होने लगते हैं। अहा....। मेरा कितना सौभाग्य–त्रिदेवियों से अत्यन्त स्पृहणीय तथा कुयोगिनियों से दुराराध्या अपनी प्राण–प्रियतमा ननँद को गोद में लेकर लाड़–प्यार कर रही हूँ।

श्री किशोरीजी : भाभी भी खूब कहीं। यह मेरा गीत आपको अच्छा लगा। क्यों, जानती हैं ? इसमें आप के आर्द्र–हृदय की तो प्रधानता है। हृदय तनिक आँच से ही पिघल जाता है। संगीत में कुछ रस भी रहा होगा, तो वह इसलिये कि आपके रस–पूर्ण–मूर्ति का प्रतिबिम्ब मेरे अन्तःकरण की आरसी में पड़ता था।

श्री सिद्धिजी : हे श्री राजकिशोरीजू ! अभिमान शून्य होना ही तो आपका वैशिष्ट्य है, जो अप्रतिम और अलौकिक महानता का द्योतक है। अस्तु, आपका कथन हमारी श्री लाड़िलीजू के अनुरूप ही है।

श्री किशोरीजी : (सिद्धिजी के मुख–कमल पर अपने हस्त–कमल को रखते हुये) चलिये बहुत हो गई प्रशंसा। स्तुति–सुमनों की झड़ी लगाकर संगीत सुनाने से आज, अवकाश नहीं पायेंगी आप !

(भाभी के गले में दोनों हाथ डालकर) भाभी जी.... अब आप सुनाइये, सुनाइये न, देखिये विलम्ब न करिये। एक पद सुना दीजिये, हम सबकी तीव्रातितीव्र इच्छा है। हमने सुना है कि आप खूब अच्छा गाती हैं, छिपाने से काम नहीं चलेगा। अपनी लाड़िली ननँद की आनंद–वर्धिनी अभिलाषा को क्या पूर्ण नहीं करेंगी ?

श्री सिद्धिजी : (मंद मुस्कुराती हुई प्यार से) लाड़िलीजू ! मैं तो केवल आपके रुख को देखकर चलने वाली हूँ। स्वप्न में भी नहीं चाहती कि आपकी इच्छा को टाल–मटोल कर सकूँ ! यद्यपि मुझे संगीतविद्या का सारतम ज्ञान न सा है, जो कुछ होगा, वह ज्ञान आप ही का ज्ञान है, अच्छा ...श्रवण करें।

(श्री सिद्धिजी वीणा हाथ में लेकर सरस्वती–सी शोभा पाने लगीं। कुण्डलादि–आभूषणों से उनका सहज ही सुन्दर मुख–मयंक अत्यधिक शोभा

दे रहा था, ज्यों ही तन्त्री के तारों पर अंगुलियाँ फिरीं, त्यों ही महल-प्रान्त सुमधुर-झंकार से झंकरित हो उठा और प्रथम ही श्रवण के साथ श्री किशोरीजी सहित सारा समाज मुग्ध हो गया।)

पद : करो स्नान, करो स्नान, सियजू की कीरति गंगा।
त्रिभुवन में विख्याति पावनी, सुमिरत अघ को भंगा।
सादर मज्जन पान किये ते, देति परम पद संगा।
साधु समाज में आदर जेहिं बल, जीत भई जग जंगा।
हर्षण मन क्रम वचन सिद्धि हूँ, सेइ चहति रस रंगा।

(संगीत-कला की निपुणता और भाव भरी प्रेम-सुधा से सराबोर श्री सिद्धिजी की वाणी की मधुरिमा ने श्री किशोरीजी सहित सब सखियों को प्रेम-मूर्छा की दशा में स्थित कर दिया। श्री सिद्धिजी पद-समाप्ति के अनन्तर ही सबकी दशा को देखती हुई, वेणु हाथ में लेकर, अपने अरुणिम-अधरों से उसे लगाती हैं और मुरली की मन-मोहिनी मधुर-ध्वनि से सबको जगाकर प्रकृतिस्थ कराना चाहती हैं।)

वेणु में पद : आओ मोरी मुरझाई कमल की कली।
प्यारी प्यारूँ तुझे मैं अधर अमिय से, आओ लगा लूँ हृदय की थली।
नेह-नयनों के नीर नहवाऊँ तुम्हें मैं, पलकों से पोछूँ प्रेम की पली।
तुमते प्यार अनोखा है मेरा, मिल जाये परस्पर एकै गली।
हर्षण-हिय बलिहारी री तोहिं पै, लखि-लखि लोने लाल की लली।

(मधुर-मधुर संगीत से सम्पन्न वेणु-नाद श्रवण में पड़ते ही प्रेम पूर्णा किशोरीजी प्रकृतिस्थ होकर सिद्धिजी के मुख-विनिस्सृत वंशी-निनादित स्वरों को चित्र लिखी सी सुनने लगीं। गीत समाप्त होते ही नेह नयना अपनी भाभीजी के अंक में बैठकर, उनके हृदय से लिपट गईं और भाभी का अत्यन्त स्नेह युक्त प्यार पाकर परम प्रसन्नता का अनुभव करने लगीं।)

श्री किशोरीजी : चन्द्रकले ! देखीं न, भाभी जी की संगीत-कला। अहा...! सामगान से वेद-वेद्य परब्रह्म-परमात्मा प्रसन्न चाहे भले न हो किन्तु हमारी बन्धु-वधू के गीत से उसे आकर्षित ही होना पड़ेगा। देखिये न ! प्रत्यक्ष आज परमात्मा ही तो प्रेम रूप से प्रकट होकर, समाज को आत्मसात कर लिया है। भाभी जी के भाव से भावित होकर पद का भावनीय स्वरूप सहज ही आँखों में झूलने लगता है, तभी तो संगीत-कला में इतने निपुण भैया जी भी इनके संगीत-सुधा का पान करते हुये प्यासे बने रहते हैं।

श्री सिद्धिजी : हे श्री विदेहराज नन्दिनी जू ! आपका सहज स्वभाव ही है, सबको मान देना। मेरे गीत में क्या था ; आपकी मंजु-मूर्ति का ही तो स्मरण था। अस्तु, आप ही उसमें प्रतिष्ठित होकर, कुछ रस पैदा कर दी होंगी। आप स्वयं रस की रस हैं, रसोत्पादिका हैं, और रस-लुब्धा रस-भोगी रसिका भी हैं। आपकी महिमा आप ही समझें। सर्व स्थितियों और सर्व-देश-काल में आप ही की लीला का लालित्य है। आपकी भाभी से तो वही होना संभव है, जो आप श्री की इच्छा होगी।

श्री किशोरीजी : भाभी जी ! हम सुनती हैं कि आप नाट्यकला में अत्यन्त निपुण नागरिक नारी हैं। एक दिन हमें अभिनय दिखलाइये न ?

श्री सिद्धिजी : लाड़िलीजू ! जो कैंकर्य आप कराना चाहेंगी, वह भला कब किंकरी से नहीं हो सकता। आप जब कहेंगी, आप श्री की नटिनी के द्वारा नाट्य का प्रदर्शन हो जायगा।

श्री किशोरीजी : (सब सखियों के साथ एक स्वर से) हमारी भाभीजी की जय हो, जय हो। अब हम सबको आप श्री की अध्यक्षता में उच्चतम नाट्य –कला का कौशल्य नित्य नव–नव–दर्शन करने को मिला करेगा। आज का कार्यक्रम इति किया जाय, ठीक है न ? चन्द्रकला जी।

चन्द्रकलाजी : श्री किशोरीजू ! कार्यक्रम से उपराम लेने का समय भी हो गया है, अस्तु ऐसा ही होना चाहिये।

(श्री किशोरीजी, श्री सिद्धिजी का हाथ पकड़ कर सखियों के सहित संगीत सदन से प्रस्थान करती हैं।)

पटाक्षेप

....

पंचदशः दृश्य : १५

(श्री सिद्धि कुँअरिजी श्री विदेहराज नन्दिनीजू के साथ महल के नवमें खण्ड के ऊपर सिंहासन पर विराजी हैं। शारदीय गगन में पूर्णचन्द्र देव नक्षत्र मण्डल के बीच परम शोभायमान हो रहे हैं। दोनों भाभी ननँद–सखियों और दासियों से आवृत होकर चन्द्र दर्शन कर रही हैं किन्तु नभ का पूर्णचन्द्र, सम्मुख बैठी हुई श्री किशोरीजू के श्री मुखचन्द्र के सामने निष्प्रभ और लज्जित–सा लग रहा है, इस लिये श्री सिद्धिजी सम्मुख बैठी श्री किशोरीजू के मधुरातिमधुर प्रियकर मुखचन्द्र से परम आकृष्ट होकर एक पद गाती हैं।)

पद : वारौं बहुत वर चन्दा, श्री सिय पर।
सत्य सत्य निज अनुभव भाखहुँ, जनक लली जगवन्दा।
शीतल सुखद सुधा की सागर, प्रियकर शत नृप नन्दा।
निर्मल नित्य एक रस रहई, विपति बिना सुखकन्दा।
हर्षण मम मन मधुकर पीवै, चरण कमल मकरन्दा।

श्री सिद्धिजी : हे हृदयानन्द वर्धिनीजू ! मैं अत्युक्ति नहीं कर रही हूँ, सत्य–सत्य अपनी आँखों का अनुभव कह रही हूँ, कि यह शारदीय शशि सब प्रकार से आपके अनुपमेय आनन के सम्मुख लघुतर और अप्रंशसनीय है। क्यों ? चन्द्रकला जी, चारुशीलाजी, मेरी बात सही है न ?

चन्द्रकलाजी : (सब सखियों के साथ) सही बिल्कुल सही निर्णय है, आप का, भाभीजी ! युक्ति–युक्त में बहूक्ति का क्या काम ?

श्री किशोरीजी : (संकोच के साथ) भाभीजी ! अत्यन्त प्रीति के कारण कोई भी प्राणी और पदार्थ, जगत के सभी प्राणियों और पदार्थों से सर्वतोभावेन श्रेष्ठ प्रतीत होने लगता है। यह सब प्रेमदेव की करामात है। समझ गयीं न आप लोग?

श्री सिद्धिजी : हे श्री राजकिशोरीजू ! आपने जो कहा ठीक ही है किन्तु आप में सौन्दर्य, सौकुमार्य, माधुर्य, सौष्ठव, लावण्य और लालित्यादि काय-सम्पत्तियाँ स्वाभाविक समुद्रतया विद्यमान हैं, जो सबके सामने प्रत्यक्ष हैं।

आप सहज ही सुन्दर से सुन्दर त्रिभुवन की मन-मोहिनी नारियों के भी हृदय को हरण कर लुब्ध करने वाली हैं। आध्यात्मिक अनंतानंत दिव्य गुणों की आकर, आपकी अनल्प महिमा का महान-महोदधि किसी के उल्लंघन करने का विषय नहीं है।

श्री किशोरीजी : भाभीजी ! आप बड़ी बड़ाई से मुझे भरे दे रही हैं, क्या बात है? यह सब दृश्य दर्शन करने वाली आपकी दृष्टि का ही दोष है। आपकी आँखें अपने ही अनुसार तो अन्य का अवलोकन करेंगी। धृष्टता को क्षमा करेंगी, आप अपने समीचीन सारतम सौंदर्य को ही हम में देख रही हैं, जैसे आदर्श में लोग अपने प्रतिबिम्ब ही को देखते हैं, क्यों ठीक है न ?

श्री सिद्धिजी : वास्तविकता तो आप श्री में ही है, मैं यह भी नहीं कह सकती कि श्री लाड़िलीजू के सौंदर्य-सिन्धु के किंचित छीटे इसमें न पड़े होंगे।

श्री किशोरीजी : (श्री सिद्धिजी के कंठ में अपने कर-कमलों का हार पहनाते हुये, आसनासीन होकर) अच्छा भाभीजी ! सम्मुख आप की सखी चित्राजी दर्पण लिए हुए खड़ी हैं। अस्तु, हम और आप अपना-अपना प्रतिबिम्ब उसमें देखें। परीक्षण हो जायेगा।

श्री सिद्धिजी : श्री किशोरीजू की जैसी लीला करने की इच्छा हो वैसी ही क्रिया हो। आप श्री की चरित-चन्द्रिका की चाँदनी ही तो निखिल जीवों के संतृप्त हृदय को शीतल बनाने में सर्वभावेन समर्थ है।

(श्री किशोरीजी सहित श्री सिद्धिजी दर्पण में अपना आनन अवलोकन करती हैं श्री सिद्धिजी आश्चर्य चकित सी हो जाती हैं।)

श्री किशोरीजी : भाभी जी ! क्या बात है ? आश्चर्य-सागर में क्यों अस्त हो गईं, आप? अपने आनन का प्रतिबिम्ब देखकर अपनी ननँद को निर्णय देने मे क्यों बिलम्ब कर रही हैं ?

श्री सिद्धिजी : लाड़िलीजू ! इस दर्श में न जाने क्या दोष है ? हमारा प्रतिबिम्ब. तो इसमें पड़ता नहीं और आपके दो प्रतिबिम्ब पड़ते हुए स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं।

श्री किशोरीजू : नहीं, नहीं भाभाजी ! एक आपका और एक हमारा प्रतिबिम्ब है। (कुछ हटकर) लीजिये, मैं हटी जा रही हूँ। अब तो इस प्रतिबिम्ब को आप अपना कहेंगी न? क्योंकि दर्श के सामने केवल आप हैं, मैं नहीं ।

श्री सिद्धिजी : नहीं, नहीं किशोरीजू ! मैने अपने मुख को शीशे में ऐसा कभी नहीं देखा, यह तो मेरे प्राणों का प्यारा साक्षात् आपका मधुर-मधुर मुख है।

श्री किशोरीजी : अच्छा चित्राजी ! आप ही बतलाइये । आप स्वयं भाभी जी की अन्तरंग सखी हैं।

चित्राजी : (दर्पण के प्रतिबिम्ब को देखकर) अवश्य, अवश्य ! यह आपके बिम्ब का ही प्रतिबिम्ब है, चारुस्मिते !

सिद्धिजी : क्या चित्रा ? तुमने कभी ऐसा मेरा मुख देखा था ?

चित्राजी : (पुनः दर्पण में झाँककर) आप श्री के मुख–कान्ति को तो मैं सदा से ही अलौकिक और अप्रतिम अवलोकन करती आ रही हूँ किन्तु इस समय आप व श्री किशोरीजू के मुख में कोई भेद नहीं पा रही हूँ। मुझे भी आश्चर्य हो रहा है कि अभी पहले दर्पण में आपका ही रूप दृष्टिगोचर हुआ, पुनः देखने पर श्री किशोरी जी का स्वरूप, आँखों का विषय बन गया, कैसा आश्चर्य है यह ?

श्री किशोरीजी : भाभीजी ! आपका रूप और मेरा रूप एक सा है न ? चित्रा जी की बात पर तो विश्वास हो ही गया होगा, क्यों ? आप स्वयं योगिनी हैं, बतलायें, मुझ से भिन्न आपका स्वरूप है क्या ?

श्री सिद्धिजी : नहीं, नहीं, लाड़िलीजू ! मेरा स्वरूप आपके स्वरूप के भीतर ही है। आप से पृथक मेरा कोई अस्तित्व नहीं ।

श्री किशोरीजी : (पुनः शीशे में अपना प्रतिबिम्ब देखती हुई) भाभीजी! पुनः बतलायें तो सही, इन दो प्रतिबिम्बों में कौन आप हैं और कौन हम!

श्री सिद्धिजी : श्री राजकिशोरीजू! यह निर्णय देने की क्षमता मुझ में नहीं है क्योंकि दोनों प्रतिबिम्ब आप श्री के ही हैं । इस से तो मैं, इसी निश्चय पर पहुँचती हूँ कि आप हीं आप हैं, मै हूँ ही नहीं।

श्री किशोरीजी : आप नहीं पहचानतीं, किन्तु मैं पहचान रही हूँ, भाभीजी आपके प्रतिबिम्ब को .....

श्री सिद्धिजी : श्री राजदुलारी जी ! हाँ, हाँ, आप ही बतलायें कि आदर्श–तल संस्थित अलंकृत–स्वरूपों में से कौन मेरा स्वरूप है और क्यों ?

श्री किशोरीजी : अच्छा भाभीजी ! आप अपने पाणि–पद्म को अपने शिर–शंभु पर चढ़ायें तो सही ।

श्री सिद्धिजी : (सिर में हाथ रखकर) लाड़िलीजू ! क्या लीला करने में तुली हैं, आज । कुछ समझ में नहीं आता । लीजिये, मैंने अपना हाथ अपनी चन्द्रिका में रख लिया।

श्री किशोरीजी : अच्छा अब देखिये भाभीजी! जिस प्रतिबिम्ब की चन्द्रिका में हाथ रखा प्रतीत हो रहा है, वह आप श्री के मुख का प्रतिबिम्ब है और जो उससे पृथक है वह आपकी ननँद का है।

श्री सिद्धिजी : (संकुचित होकर हाथ हटाकर) देखिये, कहीं कोई पहचान है। आप ही की छाया दो रूपों में पड़ रही है। जैसे कभी–कभी कारण वश एक ही पुरुष में, दो परिछाइयों का दर्शन लोक में।

श्री किशोरीजी : अच्छा....... भाभीजी बड़ी चतुरी हैं, कैसे कह रही हैं। यह गले में मंगल सूत्र और यह सिर में सिंदूर की रेखा से युक्त प्रतिबिम्ब आपका है, और यह हमारा । कहिये, इतना भेद है न प्रतिबिम्बों में ? मेरे शिर में सिंदूर नहीं है, तो मेरे प्रतिबिम्ब में भी नहीं है आपका शिर अरुण चूर्ण से रंजित है अतः प्रतिबिम्ब भी सौभाग्य सूचक लाल रेखा से सुशोभित है। हमें भोली –भाली और छोटी समझकर बहलाना चाहती हैं, किन्तु यहाँ मिथिलेश किशोरी के आगे बिड़ावलाधिपति किशोरी की न चलेगी।

श्री सिद्धिजी : (हृदय से लगाकर) यही तो मैं भी कहती हूँ , किशोरीजू ! कि आप ही आप हैं, आप से अतिरिक्त मेरी कोई अन्य सत्ता व स्थिति नहीं।

श्री किशोरीजी : अच्छा भाभीजी ! अब आप को अपना रूप आइने में नहीं नजर आ रहा है? देखिये तो सही मुझे तो आप ही आप दिख रही हैं।

श्री सिद्धिजी : (दर्श मे दोनों प्रतिबिम्ब अपने ही आकार के देखकर आश्चर्य चकित होकर....) श्री लाड़िलीजू ! आज आपकी यह कैसी अभिनव लीला चल रही है। इस लीला का भावार्थ मैं अब तक नहीं समझ पाई।

श्री किशोरीजी : क्यों भाभीजी ! क्या बात है ? अब तो आपका रूप आपको मिल गया न ? जो कि पहले प्रतिबिम्ब से कम सुन्दर नहीं है।

श्री सिद्धिजी : श्री लाड़िलीजू ! आपके रूप जैसा प्रतिबिम्ब शीशे में नहीं पड़ रहा है वरन् मेरे रूप जैसे दो प्रतिबिम्ब दिखाई दे रहे हैं। कारण समझ में नहीं आता, शीशे में ही दोष है अथवा यह आपके जादूगरी की ज्योति है।

श्री किशोरीजी : भाभीजी ! मेरी समझ में यह एक किसी विशेष अचिन्त्य अच्युत शक्ति का संप्रभाव है।

श्री सिद्धिजी : श्री किशोरीजू ! इससे उस शक्ति का क्या स्वार्थ सिद्व होगा ?

श्री किशोरीजी : वह शक्ति इस ब्याज से यह निर्देश करती है कि तुम दोनों भाभी –ननँद एक ही तत्व हो । एक ही हो, एक आत्मा, दो देह हो , दोनों के अन्तर और वाह्य लक्षणों में कोई भेद नहीं है। अस्तु हम दोनों एक मन एक आत्मा होकर सम्बन्धानुसार रसास्वाद करती रहें। क्यों भाभीजी ! यही ठीक अर्थ है न ?

श्री सिद्धिजी : आपके वचनों में कभी स्वप्न में भी असत्यता का आरोप एवं समावेश नहीं हो सकता किन्तु मैं समझती हूँ कि यह आपकी औदार्यमयी परम कृपा है, जो इस प्रकार मुझे अपनाना चाहती है।

श्री किशोरीजी : (सिद्धिजी के कपोलों से कपोल मिलाकर आलिंगनासक्त होकर) भाभीजी ! अब आइने में हम लोगों का प्रतिबिम्ब अपने–अपने रूप के अनुरूप ही पड़ रहा है, देखिये न ?

श्री सिद्धिजी : (देखकर) धन्य है, आप की लीला किशोरीजू ! अच्छा .... अब हम लोग नीचे चलें। ठीक है न ? क्योंकि अधिक शीत–सेवन से आप श्री के मुख–कमल की कान्ति में अविकसितत्व की रेखाओं का दर्शन आपकी भाभी को असह्य होगा।

श्री किशोरीजी : हाँ, हाँ भाभीजी ! हम लोग चलें। गगनगामी पूर्णचन्द्र को न देख कर आप श्री के श्रीमुखचन्द्र का दर्शन करके ही हमें कहीं अधिक आनंद का अनुभव होगा।

श्री सिद्धिजी : (किशोरी जी का हाथ पकड़कर नीचे खण्ड के लिये, सब सखियों के साथ चलती हुई..) आप खूब विलज्जित कर रही हैं मुझे, किशोरीजी।

श्री किशोरीजी : अभी आपने कहा कि किशोरी स्वप्न में भी असत्य नहीं बोलती और अब मेरे वचनों में अतिशयोक्ति का ध्यान करने लगीं।

[श्री सिद्धिजी संकुचित व निरुत्तर होकर किशोरीजू को प्यार करती हुई अपने महल को प्रस्थान करती हैं।]

पटाक्षेप

....

(श्री कुँअर लक्ष्मीनिधिजी अपनी प्रिय पत्नी के साथ विमानाकार महल में सिंहासनासीन हैं। श्री सिद्धिजीकी सखियाँ, छत्र, चमर विंजन लिये हुये, उनकी सेवा में समुपस्थित हैं। श्री किशोरीजू के चारु-चरित्रों से सम्बन्धित संगीत के द्वारा दासियाँ दम्पति का मनोरंजन कर रही हैं।)

पद : लक्ष्मीनिधि लै अंक सिया को, विहरत गृह की भव्य वाटिका,
चूमत कर-पद मुखहिं जिया को ।
लता-कुंज भूरुह बहु पुष्पित, दिखरावत नव नेह हिया को ।
तोड़ि सुमन सुरभित दै सीतहि, कहत लली सूँघहु तुम याको ।
हर्षण हँसति औ सूँघति सीया, परमानन्द दई भैया को ।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (संगीत से औचक चित्त हटाकर...) हैं..? यह मधुर-मधुर नवल नुपूरों की ध्वनि श्रवण-पुटों में सुधा का संचार करती हुई, कहाँ से आ रही है? ऐसी शब्द-रस की रसालता तो श्री किशोरीजू के चरणाश्रित नव्य-भव्य नुपूरों में ही है, प्राणवल्लभे !

श्री सिद्धिजी : (संगीत को विराम देकर) प्राणनाथ ! अवश्यमेव आपकी अनुजा अपनी अनेक अलियों के साथ आपके दर्शनार्थ पधार रही हैं। श्री किशोरी जी सहित समूह सखियों के पद-न्यास करते समय नुपूरों की ही ध्वनि है यह जो चित्त की चंचलता को मिटाने में सर्वथा सक्षम है, प्रभो !

दासी : मिथिलेश कुमार के जीवन की जय जयकार हो। (प्रणाम करती है।)

श्री लक्ष्मीनिधिजी : आनन्द रहो दासी, कहो क्या कहना चाहती हो ?

दासी : आपकी प्राण-प्रियतरा अनुजा अपनी सखी-सहेलियों के साथ अपने भैया के पास पधार रही हैं, सुनिये न ? भ्रातृ-कीर्ति से संयुक्त गीत अनेक कोकिल कंठों से गाया जाने के कारण कितना सुमधुर और सुस्पष्ट श्रवण गोचर हो रहा है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (सुनते ही प्रेम विभोर होकर..) प्रिये ! देखिये, देखिये, वह मेरी दुलारी किशोरी आ ही गईं। आप आगे चलकर उन्हें सप्रेम लिवा लायें।

श्री सिद्धिजी : (शिर नत होकर) प्राणनाथ की प्राण-संजीवनी श्री लाड़िली किशोरीजू के कैंकर्य करने का सुअवसर प्राप्त होना मेरे सुख व सौभाग्य का संप्रवर्धक है। अभी-अभी उनको आपके अंकासनारूढ़ कराकर भ्रात-भगिनि की आरती उतारते हुय आप मुझे देखेंगे।

(श्री सिद्धिजी आगे चलकर श्री किशोरीजू से प्रेम विभोरता के साथ मिलने में इस प्रकार शोभा दे रही हैं जैसे हर-प्रियाजी, हरिप्रियाजी से मिल रही हों। सखियों के मुख से निकली हुई जय-ध्वनि महलों में गूंज-गूंजकर आनन्द-विवर्धन का कारण बन रही है।)

श्री सिद्धिजी : श्री राजनन्दिनीजू ! आपके उदार स्वभाव की सदा जय हो। दर्शन की कामना उद्भूत होते ही, आप श्री ने स्वयं पधार कर आनन्दाम्भोधि का अवगाहन करा दिया। पधारिये, जिससे आपके भैया अपनी अनुजा के आनन का अवलोकन कर अमृत के आस्वाद का अनुभव करें।

श्री किशोरीजी : (नेत्रों में जल भर कर) मेरी भाभी ! मेरा आनन्द तो मेरी भाभी और भैया से किया हुआ अलौकिक और अनिर्वचनीय–प्रेम–पूर्ण प्यार ही है। भूख लगने पर प्रेमान्न–सुधा पाने के लिये, मैं स्वयं सखियों समेत आपके गृह आ गई तो इसमें मेरी क्या उदारता ? उदार तो आप युगल–मूर्तियाँ हैं, जो मुझ तृषित की क्षुधाशान्ति हेतु सदा सजग और संलग्न रहा करती हैं।

श्री सिद्धिजी : (प्रेम में भरकर अपने अंक में खींचते हुये...) लाड़िलीजू ! यदि अंग, अंगी के आनन्दाप्ति के लिये कुछ नैसर्गिक चेष्टा करता दिखाई दे, तो उसमें उसकी क्या उदारता ? वह तो सहज ही अंगी का शेष है। हम तो आपकी हैं, बस यह एक स्मृति, हमारी सत्ता की संस्थिति रखने और शाश्वत–सुख–समृद्धि के संप्रर्वधन के लिये एक मात्र सिद्धोपाय है।

(श्री सिद्धिजी, अपनी ननँद को उनके अग्रज श्री लक्ष्मीनिधिजी की गोद में बिठा देती हैं। प्यार करते हुये श्री लक्ष्मीनिधिजी अपनी अनुजा के साथ सिंहासन में शोभायमान हो रहे हैं। आस पास अन्य सभी अनुजायें तथा सखी–सहेलियाँ श्री किशोरीजू की शोभा परिवर्धित कर रही हैं।)

श्री लक्ष्मीनिधिजी : लाड़िलीजू ! आपके मुख–मयंक के अदर्शन से मेरा मुख–कुमुद अप्रभ और अविकसित ही रहता है। अस्तु, आपका यह भैया अपनी अनुजा को अपने उत्संग से विलग होते देखकर तत्क्षण विरह–ताप से संतप्त होकर, आर्तिदशा का अनुभव करने लगता है।

श्री किशोरीजी : भैया ! आपकी क्रोड़ ही तो मेरी विहार–भूमि तथा विश्राम–स्थली है, जिसे प्राप्तकर मुझको अम्मा और दाऊ की गोद भी भूल जाती है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : मेरी अनुजे ! धन्य है आपके इस अनुपमेय – आनन्दोत्पादक–मधुरातिमधुर–सौम्य–स्वभाव को। अपने भैया के पास आपको अत्यन्त आनन्दानुभूति होती है, यह मेरा श्रेय–स्वरूप–सर्वाङ्गीण–सौभाग्य है, जिसका निर्माण केवल आपकी अहैतुकी–कृपा से आप श्री के द्वारा ही किया गया है, लाड़िलीजू !

श्री किशोरीजी : भैयाजी ! जब से हमारी श्रीमती भाभीजी का पदार्पण यहाँ हुआ, तब से उनके चन्दन–चर्चित–चन्द्र–वदन को देख–देखकर, हमारा आनन्दाम्भोधि अनवरत, प्रतिपल, अधिकाधिक, विवर्धमान होता हुआ, हमें अपने में आत्म–सात कर रहा है, अहा..... अपनी भाभीजी को पाकर कितनी सौभाग्यशालिनी बन गई, मैं।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : अच्छा, ललीजू ! आप सही बतलायें कि, आपकी भाभी के हृदय में आपके प्रति, मेरे जैसे ही श्रद्धा और अनुराग है या न्यूनाधिक।

श्री किशोरीजी : (नेत्र गीले कर) भैयाजी ! आपके हृदय में अपनी अनुजा के लिये वात्सल्य भाव की अनंत लहरों से लहराता हुआ अलौकिक प्रेम का जो परिपूर्ण सिन्धु भरा है, वही स्नेह का समुद्र श्री भाभीजी के उरालय में अपनी ननँद के लिये लहरा रहा है। क्षमा करेंगे, कहने में संकोच लगता है..... । आप जब प्यार करते हैं, तब लगता है कि यह अत्यधिक स्नेह केवल भैया ही कर रहे हैं, किन्तु जब भाभीजी के पास मुझे उनका प्यार सुलभ होता है, तब प्रतीति होती है कि आप उभय–विभूतियों का स्नेह एक साथ प्राप्तकर आनन्द–सिन्धु में समा रही हूँ, मैं।

(भाभी के प्रेम की स्मृति करके श्री किशोरीजी प्रेम विभोर होकर अपने अग्रज श्री लक्ष्मीनिधिजी की गोद में मूर्छावस्था को प्राप्त हो जाती हैं।)

श्री सिद्धिजी : (प्रेमोपचार द्वारा श्री किशोरीजी के सचेत होने पर) लाड़िलीजू! न मैं कुछ हूँ, न मेरा कुछ है। आप श्री से यह अविदित नहीं कि इस किंकरी के हृद्देश में एक मात्र आपके अग्रज का ही सर्वतोभावेन एक छत्र आधिपत्य है। वही उसके श्री मन्महाराज हैं, वही वहाँ त्रिकाल प्रतिष्ठित हैं। उनके हृदय में हर समय आपके स्नेह की पवित्र-गंगा की, धवल-धारा भरपूर प्रवाहित रहती है इसलिये इस किंकरी के हृदय में, आपको अपने प्रति प्रेम दृष्टिगोचर हो रहा है। अन्यथा इस जड़भूतात्मा में जड़ता को छोड़कर चैतन्य रस का दर्शन और उसकी सुलभता उसी प्रकार संभव नहीं जैसे काठ की पुतली से श्रवण-प्रिय मधुर-वाणी का विकास।

श्री किशोरीजी : जैसा भी हो, मुझे तो आपके प्यार में उस अनिर्वचनीय मधुरता का अतीत आभास होता है, जिसे युक्ति और दृष्टान्त के द्वारा समझाया नहीं जा सकता, भाभीजी !

श्री सिद्धिजी : ललीजू ! मेरी इच्छा है कि आप मेरे हाथों से, आप श्री के लिये निर्मित हुये कुछ भोग-पदार्थों को आरोग लें, जिससे आपकी भाभी की सेवा सफल हो जाय।

श्री किशोरीजी : मैं कहने ही वाली थी कि भाभीजी मुझे भूख लगी है, भोजन दीजिये किन्तु आप मेरे मनोज्ञ-मनोरथ को जानकर पहले से ही क्षुधा-शांति का उपाय करने में प्रयत्नशील हो गईं।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : जाइये लाड़िलीजू ! सभी बहनों, सखियों, और दासियों के समेत स्वानुकूल नैवेद्य ग्रहण कीजिए। अपनी भाभी की सेवा स्वीकार करने से आपके भैया को अतिशयानन्द की अनुभूति होगी।

श्री सिद्धिजी : (अपने करों से श्री किशोरी जी का पाद-प्रक्षालन करके, आचमन कराने के पश्चात् प्यार से हाथ पकड़ कर...) लाड़िलीजू । इस आसन पर आप पधार जायें, इन आसनों पर आपकी अनुजायें, इन आसनों पर आपकी अलियाँ और इन आसनों पर आपकी दासियाँ विराज जायें।

श्री किशोरीजी : लीजिये भाभी जी ! हम सब बैठ गयीं, लाइये अब शीघ्र लाइये नैवेद्य। देर न कीजिये, आपके कर-कमलों से परोसा हुआ भगवत प्रसादान्न ही तो तृप्ति-मूलक है।

श्री सिद्धिजी : ये रसीले पक्वान्न भरे थाल आप सबके सामने आ गये, किशोरीजू ! अब आप कृपा कर अपनी भाभी से अर्पित अन्न को ग्रहण करें।

श्री किशोरीजी : भगवान को भोग लग चुका है न ? भाभीजी !

श्री सिद्धिजी : हाँ, हाँ, भगवदर्पित-थाल ही तो आप श्री के समक्ष प्रस्तुत कर रही हूँ।

श्री किशोरीजी : भाभीजी ! मेरे मन में एक मधुर कामना है, हृदय कहता है कि आपके साथ एक थाल में पाने से मुझे कुछ और ही अनोखे आनन्द का अनुभव होगा। कहिये ठीक है न ?

श्री सिद्धिजी : मुझे तो आपके भैया और आपको पवाने के पश्चात् शेष शीथ-प्रसादी सेवन करने ही में अत्यन्त आनन्द की अनुभूति होती है किन्तु अपनी प्यारी ननँद के आनन्द विवर्धनार्थ किशोरीजी की इच्छा पूर्ति में ही मुझे सर्वतोभावेन सुख है। हाँ, एक बात आपको अवश्य विचारणीय है कि मैं आपके भैयाजी के पाये बिना जल भी ग्रहण नहीं करती।

श्री किशोरीजी : (अनुजाओं की पंगत में विचरते हुए भैया श्री लक्ष्मीनिधिजी को देखकर) भैया, ओ भैया ! आइये हमारे सन्निकट आइये न।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : लीजिये, आ गया मैं ! क्या बात है, लाड़िलीजू ?

श्री किशोरीजी : मुझे अपनी भाभी के साथ आज एक थाल में पाना है। वे तब तक इस अन्न को न पायेंगी, जब तक आप इसे उच्छिष्ट नहीं कर देंगे। अस्तु, भैयाजी !बैठकर इसी थाल में पाते हुए, मुझे भी पवायें, तभी तो आपकी दुलारी को दूने-दूने आनन्द का अनुभव होगा।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : लीजिये, मैं बैठ गया। (श्री किशोरीजू को गोद में लेकर कुँअर स्वयं पाते हैं और अपनी अनुजा को पवाते हैं) लीजिये, पाइये, अच्छा बना है न भोजन ?

श्री किशोरीजी : भाभीजी के कर-कंजों का स्पर्श मात्र होने से, जब अन्न में अत्यन्त मधुरता का सम्प्रवेश हो जाता है तब उनकी पाक प्रक्रिया एवं प्रेम पूर्ण परोसने की पद्धति से आनन्द की उपलब्धि विषयक वार्ता को क्या कहना है ? मैं तो कवल-कवल में उस अतीतानन्द का आस्वाद अर्जन कर रही हूँ, जिसका अनुभव अमृत की प्राप्ति दशा पर भी शायद संभव न होगा। इतने पर भी मेरे भैया अपने कराब्जों से परम प्यार के साथ पवा-पवाकर स्वर्ण में सुगन्ध उत्पन्न कर रहे हैं। अहो ! इस स्वर्णार्घ समय की संप्राप्ति सीता के सौभाग्य को समुन्नतशील बना रही है।

(दोनों बन्धु-भगिनि परस्पर एक-दूसरे के सुख को देखकर हृदय में अधिकाधिक आनन्द की अनुभूति कर रहे हैं।)

श्री लक्ष्मीनिधिजी : अच्छा, किशोरीजू ! अब मैं न पा सकूँगा क्योंकि मैया के भवन में आपके साथ प्रभु-प्रसाद सेवन कर चुका हूँ। आप भूख के बहाने अपनी भाभी के साथ पाकर, उनकी सुख-सुलभता से स्वयं सुखी होना चाहती है। अस्तु आप दोनों आनन्द का अनुभव करें और हम चलें, ठीक है न ?

श्री किशोरीजी : अच्छा भैया ! आप चलें.... हमारे प्रसन्नता के लिये अनवसर पर भी पाने बैठ गये, यह आपका उदारतापूर्ण कितना प्यार है।

(कुँअर अपने आसन में जाकर आसीन हो जाते हैं। दासियाँ सेवा में समुपस्थित हैं। इधर श्री किशोरीजी सिद्धि कुँअरिजी को अपने थाल में, एक साथ पाने के लिये बैठा लेने का प्रयत्न करती हैं।)

श्री किशोरीजी : आइये, अब आइये, भाभीजी ! हम दोनों एक साथ भैया जी के थाल में सरस अन्न-सुधा का आस्वाद लें।

श्री सिद्धिजी : लीजिये यह बैठ गई मैं ! आप अपनी इच्छा पूर्ति के सभी साधन क्षणों में जुटा लेती हैं, किशोरीजू !

(श्री सिद्धिजी , श्री किशोरीजू के मुख में ग्रास देकर, पश्चात् स्वयं भी पाती हैं। श्री किशोरीजी भी कभी-कभी कवल लेकर श्री सिद्धिजी के मुख में बड़े स्नेह से देती जाती हैं)

श्री किशोरीजी : भाभीजी ! आपके कर-कमलों से समर्पित ग्रास में मुझे कुछ अन्य प्रकार का सुखप्रद-स्वाद प्रतीत होता है और अपने हाथ से ग्रहण किये हुये कवल में कुछ और कहिये न, क्या कारण है !

श्री सिद्धिजी : आप अपनी भाभी की, की हुई सेवा को सादर स्वीकार करके परम प्रसन्न होती हैं और वह अपनी प्रसन्नता आपको मेरे दिये हुये ग्रास में आनन्द का अनुभव कराती हैं। धन्य है, किशोरीजू !आपकी अहैतुकी अनुकम्पा को जो अपने परिकरों को अत्यन्त सम्मान के साथ परमानन्द का विधान बनाने में ही सदा तत्पर रहा करती हैं। मुझे तो आपके अमृतमय-अरुणिम अधरों से स्पर्श किया हुआ अन्न अपने कण मात्र से अमरता प्रदान करके उच्चतम-रस की अनुभूति कराता हुआ, आनन्द-सिन्धु में निमग्न कर देता है। और क्या कहूँ, लड़ैतीजू।

श्री किशोरीजी : सचमुच कहती हूँ भाभीजी ! कोई बनावट की बात नहीं, आप और भइया के साथ-साथ पाये बिना अतृप्ति का ही अनुसंधान करती रहती हूँ। तभी तो नित्य-नित्य आपके तथा भैया के कर-कमलों से कुछ न कुछ पाकर के ही रहा करती हूँ।

श्री सिद्धिजी : हम लोगों को अपने हाथ से आपको कुछ न कुछ पवाकर ही संतोष और सुख का संस्पर्श होता है । अस्तु, आप अपने भ्राता-भाभी के आनन्द प्रवर्धन के लिये ही उनके अर्पित अन्न को ग्रहण किया करती हैं। यह आपकी भ्रातृ-वत्सलता एवं उदारता है किशोरीजू !

श्री किशोरीजी : भाभीजी ! पाक-कर्ताओं के होते हुये भी मेरे लिये पाक-सिद्ध किया करती हैं, अहा.....कितना कष्ट सहनकर मुझे सुख पहुँचाने की चेष्टा से संयुक्त रहती हैं, आप।

श्री सिद्धिजी : मुझसे आप सेवा ले लेती हैं, यह मेरा परमोत्कृष्ट सौभाग्य है लाड़िलीजू ! सेव्य के सुख-संपादन के लिये सब प्रकार की सेवा करना, सेविका का सहज स्वरूप है। सच पूछिये तो यही मेरा वास्तविक आनन्द है, यही परम पुरुषार्थ है कि आप ही के लिये, मेरी सम्पूर्ण चेष्टायें हों, अपने व अन्य के लिये नहीं।

श्री किशोरीजी : (प्रेमासक्त हो, प्यार से हृदयालिंगन कर....) सबसे सराहनीय, इसी सुन्दर स्वभाव के कारण तो मुझे भाभीजी ने अपने अधीन कर लिया है। अच्छा होगा, अब हम लोग आचमन कर, भैयाजी की सेवा में चलें।

श्री सिद्धिजी : (श्री किशोरीजी सहित, सखी-सहेलियों व अनुजाओं को आचमन कराकर.....) अच्छा चलें, किशोरीजू !

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (मधुर मुस्कुराते हुये प्रसन्नता प्रकट कर) आयें, हमारी लाड़िली ! अहा...! अपनी अनुजा का दर्शन करते ही मैं योगि-दुर्लभ ब्रह्मानन्द से भी विलक्षण परमानन्द का अनुभव करने लगता हूँ।

श्री किशोरीजी : (अपने भैया के द्वारा अंक में आसीन कर लेने पर...) मुझे भी अपने भैयाजी की गोद जब प्राप्त हो जाती है तब उस सर्वश्रेष्ठ सुख के अनुभव जनित आनन्द की अनुभूति करने लगती हूँ जो संभव बैकुण्ठ में भी अप्राप्य हो।

श्री सिद्धिजी : (जनक-किशोर-किशोरी को ताम्बूल तथा गंध देकर...) अहा....! मैं कृतकृत्य हो गई, इस अनुपमेय बन्धुभगिनि की युगल झाँकी का अवलोकन कर। सखियों ! छत्र-चमर और विंजनादि सेवा-साज लेकर, सिंहासनासीन युगल प्रेम-मूर्तियों की सेवा में आप सब समुपस्थित हो जाँय। साथ ही सामने नृत्य-गान और वाद्य की मधुरिमा से मेरे सेव्य युगल-मूर्तियों का मनोरंजन भी करें। मैं स्वयं नीरांजन एवं मंगलानुशासन करूँगी।

सखीगण : जय हो श्री स्वामिनीजू की.....! आज्ञा शिरोधार्य है। आप सदैव अपनी उदारता से हम लोगों को आप श्री के सेवा का सुअवसर देती रहती हैं।

(सखियाँ सेवा-साज लिये हुये, अपनी-अपनी सेवा संपादन करने लगीं। श्री सिद्धिजी कंचन-थार में घृत और कर्पूर की बत्तियों से आरती उतारने लगीं। नृत्य-गान के साथ सखियों के नवल-नुपूरों की ध्वनि कर्णपुटों में रस का संचार करने लगी।)

आरती : सुन्दर झाँकी, झाँकि के जीवन फल लीजै।
मिथिलाधिप नन्दिनि-नन्द की, सखि आरति कीजै।।
भ्रात-भगिनि लै अंक में, बहु विधि दुलरावैं।
निरखत मुख भरि भाव में, अतिशय सुख पावैं।।
नयनन फल गुनि हर्षि के, पुलकित रस छाये।
आत्मा-आश्रय जानि के, चूमत पद भाये।।
छत्र-चमर शिर ढारहीं, ललनागण लोनी।
भ्रात-भगिनि जय बोलहीं, आनन्द उर बोनी।।
नृत्य गान ते सेइ के, मानहिं बड़ भागा।
वर्षि पुष्प बढ़ सिद्धि के, हर्षण अनुरागा।।

(आरती के पश्चात् मंगलानुशासन कर, संगीत-सेवा समर्पण कर, सिद्धिजी भ्रात-भगिनि की बार-बार बलैया लेती हैं।)

श्री सिद्धिजी : हे आनन्द वर्धिनी जू ! आप इसी प्रकार अपने अग्रज के अंक में विहार करती हुई, मेरे नयनों की विषय बनी रहें, यही एक अभिलाषा है।

श्री किशोरीजी : भाभीजी ! आपका भव्य-भाव ही तो साकार होकर हमें अपने भैया के क्रोड़ में बिहरने को बाध्य कर रहा है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : लाड़िलीजू ! संध्या करने का सुन्दर समय है।अस्तु हमें वेद-पथ का अनुसरण करना चाहिए, ताकि भगवत-कैंकर्य में अपना अधिकार बना रहे।

श्री किशोरीजी : भैयाजी आप संध्योपासन करें और मैं भी अपनी सखियों समेत अपने भवन को जाऊँ।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : अच्छा लाड़िलीजू ! आप चलें, मैं भी अब नित्य क्रिया का संपादन करूँ।

(श्री किशोरीजी का सखियों सहित अपने भवन की ओर प्रस्थान...)

पटाक्षेप

....

[श्री सिद्धि कुँअरिजी अपने प्राण-वल्लभ श्री लक्ष्मीनिधिजी के साथ अपनी सखियों और दासियों से समावृत होकर, उपवन में विहार कर रही हैं। ऋतुराज भी वन में दम्पति के पदार्पण के प्रथम ही उनके स्वागत के लिये समयोचित सामग्रियों के साथ समुपस्थित है। सुरभित-शीतल-सुमन्द वायु दिशाओं में व्याप्त हो रहा है। पश्चिम की ओर से पड़ती हुई, किरणमाली की किरणें उपवन को प्रभान्वित कर रही हैं।]

श्री लक्ष्मीनिधिजी :

पद : अहा ! छाई छाई है, बसन्त की बहार।

प्रकृति प्रभा नयनन सुखदाई, ज्ञानिन को जो चित्त चोराई।

भाई, भाई पुरुष की नित नई नार.....।।

पतिव्रत धर्म परायण सत्या, पति सुख लागि बनी जग वत्या ।

गाई, गाई श्रुति सिद्धान्त को सम्हार...।।

हर्षण बनी अनन्य प्रयोजन, कबहुँ करैं नहिं किंचित भोजन ।

लाई, लाई न निज सुख मनहिं विचार......।।

श्री सिद्धिजी : प्राणनाथ, अपने दृष्टि-निक्षेप से इस उपवन में मधु की वर्षा सी कर रहे हैं। ये माध्वीक लतायें मानों आप श्री से मधु-रस को प्राप्तकर, उसी प्रकार शोभा-सम्पत्ति से संयुक्त हो रही हैं, जैसे वारिद से जल प्राप्त कर शशिवती भूमि।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये ! पुरुष की प्रसन्नता के लिये प्रकृति प्रभा की प्रदर्शनी पुरुष की ही सकासता से अवश्यमेव मधुमई दृष्टिगोचर हो रही है। अहा हा.....! आनन्द ! आनन्द !! आज ऋतुराज बसन्त से समर्पित, उपवन की राजश्री को देख-देखकर, मेरा मन हृद्गत भावोद्दीपन के देश में संश्लिष्ट हो रहा है। जी चाहता है कि प्रत्येक वृक्ष और प्रत्येक लता का आलिंगन कर निर्निमेष, इन्हें देखता ही रहूँ। अहा......! इस उपवन में जहाँ तक दृष्टि जा सकती है, हर जगह अत्यन्त सुन्दर, सुडौल और सुमनोहर पत्तों तथा पुष्पों से सुशोभित वृक्ष समूह है, प्रिये ! जिनमें तरह-तरह के पुष्प खिले हुये हैं, जिनके विविध प्रकार के सौरभ से समस्त उद्यान सुरभित हो रहा है।

सुमनों पर मधु-लोभी-भौंरे मंडरा रहे हैं। फूलों की रंग-बिरंगी शोभा से सभी ओर सुषमा छा रही है। फलने वाले वृक्ष विविध-फलों के भार से नम्र बन गये हैं। कमल से पूर्ण जलाशय में जल-पक्षियों की कलरवयुक्त-केलि कितनी अच्छी लग रही है।

प्रियतमे ! कैसे-कैसे, नवीन-नवीन, कोमल-कोमल-कमनीय-पल्लवों और कुसुमों से कुसुमित, ये रसाल-तरु पवन के झकोरों से अपने शिर को उसी प्रकार हिला रहे हैं जैसे हरित-रेशमी-वस्त्र को पहनकर, स्वर्ण मुकुट धारण किये किसी खड़े हुये राजा का शिर वायु रोग से कम्पित हो रहा हो या वह महाराजा मैरेय को पीकर मद-मत्त बना हुआ, अपने समीपस्थ अपने ही समान अन्य सुरापी से झूम-झूमकर आलिंगन करने को आतुर हो रहा हो।

श्री सिद्धिजी : नाथ ! आपकी उपमा, उपमान के अनुरूप औचित्य युक्त है। जरा इधर भी देखें.....! जीवनधन। ये किंशुक के वृक्ष, रक्त-वर्ण-पुष्प-समूहों से

आच्छादित, उसी प्रकार शोभा दे रहे हैं, जैसे लाल–साड़ी से शिर ढकी हुई, नवल–नायिका। अहो! बसन्त ऋतु की राजश्री वास्तव में बड़े–बड़े महिपालों के मन को मन्थन करने वाली सिद्ध हो रही है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये ! इन पुष्पित–लताओं की ओर दृष्टिपात करें। अहा हा.... ! ये मधु–पूर्ण कला–धारी की कला से कैसी सम्पन्न हैं। सुरभित–पराग से संयुक्त, सुन्दर–सुमनों के अलंकार अपने अंगों में अलंकृत करके आत्मीय–वृक्षों का आलिंगन उसी प्रकार कर रही हैं, जैसे नटराजों से उनकी नटरानियाँ।

श्री सिद्धिजी : प्यारे ! भिन्न–भिन्न प्रकार के पादपों में भिन्न–भिन्न प्रकार के पत्ते–पुष्प और फल, उसी प्रकार से शोभायमान हो रहे हैं, जैसे सुर, नर, नाग, किन्नर, गन्धर्व, यक्ष, असुर, दैत्य, दानव, राक्षस, भूत–प्रेत और पिशाचों की समाज एकत्रित होने पर भिन्न–भिन्न आकृति और चेष्टाओं से परिलक्षित होती है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्यारी ! देखिये न। गुंजार करती हुई, पराग–प्रेमी–भ्रमरों की पंक्तियाँ मधु के लोभ को संवरण न करके, एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष के पुष्पों की ओर जाती हुई, उसी प्रकार दृष्टिगोचर हो रही हैं, जैसे मुनियों की, प्रेम–प्रमत्ता–मंडलियाँ वेदोच्चारण करती हुई, आनन्दाप्त्यर्थ एक यज्ञ–शाला में एक यज्ञ–भुक्–यज्ञेश का दर्शन कर के दूसरे यज्ञ–शाला में पुनः दर्शन करने के लिये प्रवेश करते समय शोभित होती हैं।

श्री सिद्धिजी : प्राणनाथ ! सुनिये न .... कोकिल–कंठ से विनिस्सृत कुहू–कुहू की प्यारी–प्यारी, मधुर–मधुर मन मोहिनी–ध्वनि ! अहा हा.... चित्त को यह बरबस उसी प्रकार अपनी ओर आकर्षित करने में सक्षम हो रही हैं, जैसे रम्भादि–अप्सराओं से तन्त्री के साथ मन्द्र, मध्य और तार भेद से मार्ग–मूर्छनादि–समन्वित पंचम–स्वर से गाया हुआ गीत।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : शीतल–मन्द–सुगन्ध–त्रिविधि–समीर भी सुख–स्पर्श प्रदान करने वाला कैसा बह रहा है, प्रिये ! क्या कहा जाय, बसन्त की बहार ही विश्व–विमोहिनी है जिसमें नयनवन्तों के मन–मयूर बिना नाचे नहीं रहते।

श्री सिद्धिजी : हे नृपति–नन्दनजू ! ऋतुराज के आगमन से वनस्पतियों के भाग्य का सितारा, उसी प्रकार चमक उठता है, जैसे अधर्मी और उच्छृंखल राजा के विनाश होने पर धर्म प्राण पृथ्वी–पति की प्राप्ति से लोक की प्रजा का भाग्योदयार्क।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : समागत ऋतुपति बसन्त के आगमन से समुत्सुक–प्रजा भी बसन्ती–वस्त्रों को पहन कर, बधाई में बसन्त–राग के गीत अलापती हुई, अपने प्रिय मित्र बसन्त का सादर स्वागत करने में नहीं चूकती हैं, प्रियतमे।

श्री सिद्धिजी : प्राणनाथ ! बसन्ती–वस्त्रों का परिधान ही क्या ? बसन्त–ऋतु के आने की बधाई में, बसन्त–राग को गा–गाकर मन्दोन्मत्त की तरह सभी स्त्री–पुरुष झूमने लगते हैं और बसन्ती रंग से भरी पिचकारियों के द्वारा, एक–दूसरे पर रंग–विसर्जन कर–करके समाज को रंगानुरूप कर देते हैं, जिससे प्रत्यक्ष प्रतीत होता है कि प्रकृति के प्रदेश में अकन्टक, एक छत्र ऋतुराज का ही राज्य घोषित हो चुका है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्राण–प्रिये ! ऋतु–पति की अभ्यर्चना करने में प्रकृति–मण्डल के प्राणियों को अत्यधिक शीत और ताप का अनुभव न होने से सुखप्रद–सहायता तथा शान्ति की समुपलब्धि होती है, अन्य ऋतुओं में तो इस सौभाग्य का दर्शन दुर्लभ ही

रहता है, अतएव इस स्वर्णिम-समय को संसार के सभी सज्जनों से सम्यक् प्रकारेण साधुवाद संप्राप्त हुआ है।

श्री सिद्धिजी : तभी तो बसन्त को ऋतुराज के पद में अभिषिक्त किया गया है, प्राणनाथ ! राजा वही है, जो प्रजा का रंजन करे।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : यह बसन्त, नये संवत्सर को भी जन्म देता है, जिससे लोक नवीनता का अनुभव करने लगता है। प्रिये ! इसी बसन्त के साम्राज्य में असुरों के क्षय और भगवद्भक्तों की विजय के उपलक्ष में होलिका दहन का महोत्सव बड़े धूम-धाम से मनाया जाता है, जो सबको बसन्त की स्मृति में विभोर बना देता है।

श्री सिद्धिजी : हे हृदयेश्वर ! आपने प्रथम-प्रथम कहा था, कि बसन्त की बहार को देखकर, मेरा मन आन्तरिक-भावों की उत्कर्षता के प्रदेश में पहुँच रहा है ; यदि अनधिकारिणी न समझें तो प्रार्थना है, कि उस राहस्यिक-प्रसंग-श्रवण करने की, मेरी कर्ण-पिपासा को शान्त करने की कृपा करें।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : हे हृदयानन्दवर्धिनीजू ! मेरे हृदय में ही जब आप प्रतिष्ठित हैं, तो हृदय की वार्ता प्यारी से छिपाने में कैसे समर्थ हो सकता हूँ, मैं !

श्री सिद्धिजी : प्राणेश्वर ! मुझे पूर्णतया प्रतीति है कि किंकरी को आप वहीं रखना चाहते हैं, जहाँ आपका अन्तःकरण है। धन्य है, आपके इस अपनत्व विवर्धक, अनुपम-औदार्य को।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रियतमे ! प्रकृति की प्राकृत-सुन्दरता का सादर समवलोकन करके मेरा मन अपने वेग से तुरन्त वहाँ दौड़ गया, जहाँ के अनन्तानन्त सौंदर्य-सागर की एक सीकर से इस प्रकृति प्रदेश में सुन्दरता का समावेश हुआ है। अहा हा...वह लहराता हुआ सौंदर्य-सिन्धु कैसा मनोरम होगा। अहो ! दर्शन-वारि के प्यासे मेरे नयनों का विषय बनकर, क्या वह कभी मुझे अपने में आत्मसात करेगा ?

[कहकर श्री लक्ष्मीनिधिजी स्मृति-शून्य हो जाते हैं, कुछ काल में अपने से ही प्रकृतिस्थ होने पर.......]

श्री सिद्धिजी : भगवद्भाव में प्रतिष्ठित करने के लिये, जिसे प्रकृति-मंडल की सम्पूर्ण वस्तुयें उपादेय हैं, उसे ही मेरी आत्मा तथा आत्म-सम्बन्धी सभी चेष्टायें सादर स्वयं समर्पित हो चुकी है। अहा....! सौभाग्य की चरम-सीमा दासी ही में दृष्टि गोचर हो रही हैं। प्राणनाथ ! अनंतानंत-काल पर्यन्त जन्म-जन्म आप श्री की चरण-सेवा, मुझे इसी तरह प्राप्त होती रहे। यही अपने कुल के इष्टदेव श्री लक्ष्मीनारायण से नित्य-नित्य, शिरनत अंचल पसार कर माँगा करती हूँ।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : भागवतानुराग तथा तत्-सेवा जो भगवद्दर्शन एवं भगवत-सेवा का पूर्ण फल है, आपको पितृ-गृह से ही अत्यन्त अभीष्ट है, प्रिये ! अस्तु, आप ऐसे मधुर और कर्ण-प्रिय शास्त्र-सम्मत वचन, क्यों न कहें ?

श्री सिद्धिजी : वास्तव में हमारे प्राणधन की दृष्टि ही सच्ची दृष्टि है। दृश्य की ओट से अदृश्य की मन-मोहिनी झाँकी झाँकने को हमें मिल रही हैं, प्रभो। या यों कहा जाय, कि निराकार ही सबके सामने साकार होकर, अपने शील का समुचित संचार करता हुआ, सबके चर्म-चक्षुओं का विषय बन रहा है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : बसंत–ऋतु के मधु और माधव दो महीने क्या सुन्दर और सरस–संदेश दे रहे हैं। प्रियतमे ! वसन्त ने मधु (रस) और माधव (रसिकेश्वर) को अपने में स्थान देकर के ही ऋतु–राज के पद को प्राप्त किया है। इसी प्रकार जो जगज्जीव, जगन्नियन्ता, जगदीश्वर, परमात्म देव की उपासना रस पद्धति से किया करते हैं, वे स्वयं रसिक ही नहीं अपितु रस को विवर्धन करने वाले रसिकाचार्य बन जाते हैं। और जैसे मधु–माधव के दो महीने बसंत का परित्याग कभी नहीं करते, उसी प्रकार रस और रसिकेश्वर, उस रसोपासक को छोड़कर आसक्ति के कारण अन्यत्र रहने में अशक्य और असमर्थ बने रहते हैं, प्रियतमे !

श्री सिद्धिजी : इस आलोक को तो, मैं अहर्निशि अपनी आँखों से अवलोकन किया करती हूँ, प्राणनाथ ! आप श्री को जैसी अपरमित और असमोर्ध्व–रसानुभूति, हृदय–देश में, प्रगल्भतया प्रस्फुटित होती है, उसकी वैसी ही उपवृहणीय ज्योत्स्ना शरीर से निकल कर प्रकाश में आती है। प्रेमापरा भक्ति से ग्राह्य प्रेमास्पद, परब्रह्म, परमात्मा जो रसमय रसिकेश्वर हैं, आपकी उर–स्थली को अपनी क्रीड़ा भूमि बना रक्खे हैं। इसी से आप और भगवान में दासी को भेद न प्रतीत होकर, उपमाशून्य अद्वैत का दिव्यदर्शन होता है। प्यारे ! कभी–कभी तो परम–पुरुष भगवान के अवतारों की अनेक झलमल–झलमल झाँकियों का दिव्य–दर्शन भी हृदयेश्वर के पार्थिव शरीर में ही, उन्हीं की अप्रमेय और अहैतुकी–अनुकम्पा से सुलभ हो जाता है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (संकुचित होकर) प्रिये, न मैं भगवान हूँ, न भगवान बनना चाहता हूँ मैं तो धर्मतः उनका शेषभूत सहज दास हूँ, और वे मेरे सर्वस्व एक मात्र स्वामी हैं। न मैं कुछ हूँ न मेरा कुछ है। अगर है तो मेरे नाम की वस्तु, मेरे प्रभु हैं, मैं हूँ तो ब्रह्म–दास हूँ। आपको जो कुछ मुझमें दृष्टिगोचर होता है, वह मेरे आत्माराम का है, मेरा नहीं। आपकी प्रगाढ़–भरपूर–भावना से भावित होकर, भगवान आपके नयन–पथ के पथिक कहीं भी बन सकते हैं, फिर मेरे शरीर ही में उनके अनाख्येय–सौंदर्य की झाँकी, आपको सुलभ हो गई हो, तो आश्चर्य ही क्या ?

श्री सिद्धिजी : प्राणनाथ ने, अपने वाग्विसर्ग में ऋतुराज के सौन्दर्य तथा सामयिक सम्पत्ति का समग्र वर्णन, बड़ी पूर्णता, स्निग्धता तथा वास्तविक वैशद्य के साथ, करने के व्याज से भगवद्रस के रसिक बनने का अमृतोपम–उपदेश दिया है, जो वचन सर्वथा हमारे जीवन–सर्वस्व के मुख से निकलने योग्य स्वाभाविक हैं। वास्तव में, जीव को हरि–पद–पद्म–पराग में प्रेम करने की शिक्षा वासन्तीय–विभूति तथा मकरन्द–प्रिय–मधुप से ग्रहण करनी चाहिये।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये ! ऋतुराज़ीय श्री से सम्पन्न वन्य–वृक्षों के पुष्पों का चयन कर, अपनी अनुजा के लिये एक अत्युत्तम हार बनाने की अभिलाषा उराङ्गन में उद्भूत हो रही है। कहें, तो अच्छे–अच्छे, सुन्दर सुगन्धित, कमनीय–कुसुमों को सावधानी के साथ हम उतार लें।

श्री सिद्धिजी : प्राणधन ! तभी तो हम लोगों का कंचन–बन में विहार करने का वास्तविक उद्देश्य पूर्णता को प्राप्त होगा ; अन्यथा जो हमारी चेष्टायें नयनाभिरामा–ननँद की हृदयानन्द–वर्धिनी नहीं हैं, वे उसी प्रकार व्यर्थ हैं, जैसे अप्रवेश्य–महारण्य के पल्लव–पुष्प और फल ! अस्तु, विविध प्रकार के सौरभ–सापेक्ष–सुमनों का संग्रह करके,

अङ्ग–प्रत्यङ्गों के अभिरामीय–आभूषण बनाकर, श्री राजकिशोरीजू को धारण करायेंगी और उनकी पुष्पमई–दिव्य–झाँकी का दर्शन करके, लोचन–लाभ लेंगी, यही मेरी भी कामना है। प्यारे ! पुष्पों के भव्य–भव्य–भूषण बनाने की कला का प्रशिक्षण माइके में ही प्राप्त कर, कब से इसी प्रतीक्षा में बैठी हूँ कि वह कला कब सार्थक हो। आज आपकी कृपा से, उसका सुन्दर ढंग से सदुपयोग हो जायेगा।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (मुस्कुराकर) अच्छा प्यारी ! हम दोनों अपने हाथों से अपनी अनुजा के आभूषणों के निमित्त पुष्पों का चयन कर लें। देखें, आप सम्हार–सम्हार के सुमन चुनेंगी, कहीं कोमल–अंगुलियों में काँटे न चुभ जाँय अन्यथा मुझे एक अकल्पित–उपाधि हो जायेगी।

श्री सिद्धिजी : (जानते हुये भी, विनोद में...) क्यों नाथ ! काँटे मेरे चुभेंगे और कष्ट आप श्री को होगा, यह कैसे ?

श्रीलक्ष्मीनिधिजीः मुझे आप अपनी आत्मा से अधिक प्यारी लगती हैं इसलिये।

श्री सिद्धिजी : आपको अपनी आत्मा की आत्मा श्री किशोरीजू सदा से स्वाभाविक प्रतीति में आ रही हैं, फिर दासी को आत्माधिक की मान्यता प्रदान करने का अभिप्राय क्या है, नाथ !

श्री लक्ष्मीनिधिजी : यह सर्वथा सत्य है, प्रिये ! मेरी लाड़िली सीता ही सर्वभावेन मेरी सर्वस्व हैं किन्तु आप, श्री किशोरीजू को उन्हीं की अहैतुकी–कृपा–परवशता के कारण प्राणादपि–प्रिय हैं। अस्तु, मेरी जीव की जीवनी जानकी को परम प्रिय लगने वाली वस्तु, मुझे आत्माधिक प्रिय प्रतीति होने से ही, उनके प्रति मेरे प्रेम का प्रमाणीकरण सिद्ध होगा, अन्यथा नहीं। तदीयत्व–प्रेम के बिना, तत्–प्रेम उसी प्रकार अधूरा और व्यर्थ है, जैसे अंगी से अनुराग दिखाकर, उसके अंगों का आदर न करके तिरस्कार करना।

श्री सिद्धिजी : (मुसुकान के साथ पुष्प चुनती हुई) मेरे प्यारे का इतना प्यार दासी पर, मैं तो अपने इस सौभाग्य को प्रकट करने में, अपने प्राणनाथ की असीम–अहैतुकी–कृपा को ही कारण मानती हूँ। प्राणेश्वर ! प्रार्थना है कि मैं अभी–अभी पूर्णतया पुष्प उतारकर शीघ्र ही आ रही हूँ, आप बैठ जाँय या विहरते हुये वन–श्री का अवलोकन करें। दासी से आप श्री का कंटीले–वृक्ष से पुष्प उतारना देखा नहीं जाता। डर लग रहा है, बस हो गया... बहुत हो गया। अब रहने दीजिये न ?

श्री लक्ष्मीनिधिजीः प्रिये! हम और आप दोनों का सम्मिलित–मन से, सम्मिलित–कैंकर्य ही सेवा के सिद्धि–लाभ स्वरूप सेव्य का वदनाम्भोज विकसित प्रदर्शन कराने में सामर्थ्यशाली सिद्ध होगा ।अस्तु, हम भी अपनी हृदय–हर्षिणी के साथ श्री किशोरीजू के कैंकर्यार्थ कुछ पुष्पों का चयन कर लें। आप स्त्रीत्व के कारण ऊंचे और उलझनीय–झाड़ों में लगे अच्छे–अच्छे मनोज्ञ–सुमनों को चाहते हुए भी, नहीं उतार पायेंगी । पुनः हम ऐसी कोमलता को आदर नहीं देते जो कैंकर्य की विरोधिनी बनकर परमार्थ से च्युत कर दे। हाँ, आप न तोड़ें, तो किसी तरह उचित भी कहा जा सकता है।

श्री सिद्धिजी : क्यों प्राणनाथ ! मेरा पुष्प न उतारना किस तरह उचित होगा।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : इसलिये कि आप स्वभाव से परम सुकुमारी हैं। यह गृह–वाटिका तो है नहीं, यहाँ वृक्षों की शाखाओं में कहीं–कहीं मधु–मक्खियां भी, अपना आवास निर्माण कर समूह की समूह वास किया करती हैं। सजग न रहने पर, तनिक आहट

से उड़कर वे काट सकती हैं। कहीं बड़े-बड़े बन्दर मुँह बनाकर आपकी ओर लपकें तो आफत हो जाय, राजकुमारी जू की ! इत्यादि कारण हैं, प्रिये ! खैर....आप और हम दोनों ही पुष्प चयन करें। साथ-साथ बन-बिहार भी होगा और हमारे समीपस्थ रहने से आप को कोई भय भी न रहेगा। ठीक है न, प्राणवल्लभे !

श्री सिद्धिजी : यह तो मैं सदा से स्वीकार करती आ रही हूँ, कि प्राणनाथ से विश्लेषित होकर दुख ही दुख और संश्लेषित होकर सुख ही सुख दासी को अनल्प और अनवरत अनुभव करना पड़ेगा।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये ! आपकी भव्य-भावना पति-परायणा, भावुक-भामिनी के अनुकूल है। अच्छा, अब अविलम्ब पुष्प चुनकर यहाँ से हमें चल देना चाहिये। मुहूर्त-मात्र ही में रजनी का संप्रवेश उद्‌भासित हो रहा है क्योंकि भगवान-भास्कर अपने अंशु-समूहों को अपनी आत्मा में ही अंतर्धान करने की शीघ्रता प्रकट कर रहे हैं।

श्री सिद्धिजी : अच्छा प्राणनाथ ! पुष्प भी पर्याप्त मात्रा में उतार लिये गये हैं। आप स्वेच्छा से जब चाहें महल को प्रस्थान करें।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : अच्छा प्रियतमे ! रथ पर बैठकर हम लोग अब चलें !

(रथारूढ़-दम्पति समाज समेत महल की ओर प्रस्थान करते हैं।)

पटाक्षेप

....

अष्टादशः दृश्यः १८

[श्री लक्ष्मीनिधिजी अपनी अर्धाङ्गिनी श्री सिद्धि कुँअरिजी के साथ अपने राज-प्रासादीय-परमोत्कृष्ट-सुखद-पलंग पर स्नेह की स्निग्धता से सराबोर होकर एकान्त में विराज रहे हैं।]

श्री सिद्धिजी : जब प्राणनाथ के अप्रतिम-स्पर्श के आंशिक सुख की कल्पनात्मक तुलना, उससे भिन्न किसी प्रकार की प्राकृतिक सुखानुभूतियों के साथ नहीं की जा सकती तो सदृश्ता का अंकन करना, सर्वथा शून्य व अशक्य है। मेरा अपना अनुभव यह कहता है, कि इस लोकोत्तर अतिशयानन्द की समता संभव हो सकती है तो एक मात्र हरि भगवान के स्पर्शानन्द से, क्योंकि भक्त और भगवान में नाम-मात्र का जब भेद नहीं होता तो, उन दोनों के अनुभव में भी अन्तर का अकिंचित होना सर्वभावेन स्वाभाविक और युक्ति-युक्त है, प्रभो !

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रियतमे ! जिस प्रकार से आपको मेरे स्पर्श द्वारा हरि-स्पर्श से अभिन्नानन्द की उपलब्धि होती है, तदनुसार रूप, रस, शब्द और गन्ध विषयों में भी आनन्दानुभूति की प्रतीत होती है, क्या ?

श्री सिद्धिजी : प्राणधन ! आप अन्तर्यामी हैं। मेरे अन्तःकरण के भाव आप श्री से तिरोहित नहीं रह सकते हैं, फिर भी उन्हें अपनी आत्म-रूपिणी प्रेयसी के मुख से ही श्रवण करना चाहते हैं, अस्तु, श्रवण करें आपके रूप लावण्य के लोभी-लोचन जितना ही आप श्री का अवलोकन करते जाते हैं, उतनी ही नव-नव वर्धमान रूप-सम्पत्ति का संदर्शन उन्हें होता जाता है। अब तक का प्रत्यक्ष अभिज्ञान यही है कि आपकी सौन्दर्य, माधुर्य और

सौकुमार्यादि देह–विभूतियों में मुझे भगवत–सौन्दर्य, माधुर्य और सौकुमार्यादि का ही दिव्य–दर्शन होता रहता है। ठीक इसी प्रकार शब्द रस और गन्ध का भी ग्रहण अलौकिक, मनोज्ञ और हृदय ग्राही होता है, मेरी उक्त विषय ग्राही इन्द्रियाँ ही इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रियतमे ! मैं तो अपने को "भगवान हूँ" ऐसा नहीं जानता और न मानता ही हूँ किन्तु भगवत–कृपा से अपने स्वरूप को भगवद् भागवद्दास करके जानता हूँ, तदनुसार अपनी आत्मा और परमात्मा में अन्तर भी मानता हूँ। हाँ, आप जैसा मानती हैं, वैसा परम भागवता–भावुक–पतिपरायणा–पत्नी के अनुकूल है।

श्री सिद्धिजी : प्रभो ! तो मैं कब बाध्य करती हूँ, कि आप अपने को भगवान मानें। आपका ज्ञान और तदनुसार तदनुसंधान आपके स्वरूपानुरूप ही है। मुझे आपका, आप में जैसा प्रत्यक्ष दर्शन होता है, वैसा केवल निवेदन कर दिया है और वह इसलिये कि आपकी कार्य–सम्पत्ति की एक मात्र अधिकृत अनुभव शीला की अनुभूति के समय, हृदय–गागर से सुख का सागर उछलकर उमड़ पड़ा अन्यथा "झूठ के पाँव कहाँ" बनावटी, चापलूसी और मुख–देखी बातें अन्तर्यामी से कब तक अप्रकट रहेंगी, नाथ !

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये ! भगवत स्पर्श से भव–रस का भान भूलकर भी नहीं उत्पन्न होता, इसके बिलकुल विपरीत भौतिक–प्रवाह में बहे हुये प्राणि–समुदाय के किंचित स्पर्श व संग से जागतिकसुख की बिन्दु, समुद्र का स्वरूप धारण करके प्राणी को आत्मसात कर लेती है। मेरे स्पर्शानन्द से क्या विषयानन्द अन्तर रखता हुआ आपको प्रतीत होता है।

श्री सिद्धिजी : मेरे जीवनधन ! आज कैसी–कैसी अनजानी–सी बातें आप कर रहे हैं ? क्या आपने अपने स्पर्श से अपनी इस प्रियतमा को कभी भवरस की रसिकिनी का पाठ पढ़ते हुये देखा है ? यदि नहीं देखा है, तो वह न देखना, आपके स्पर्श के विद्युत–प्रवाह का ही प्रभाव है, जो भगवत–स्पर्श से अभिन्न है, प्रभो !

श्री लक्ष्मीनिधिजी : मेरी जीवन–संगिनी ! मैंने तो आपके प्रथम–मिलन से ही आपको अपने अनुभव में विषय–विहीन वैराग्य की साक्षात् प्रतिमा पाया था। सत्य की शपथ करके कहता हूँ, कि मेरे मन में भगवद्भक्ति के भव्य–रस की विवर्धिका सिद्ध हुई हैं, आप !

श्री सिद्धिजी : प्राणनाथ ! प्रतिबिम्ब भूत अपने गुणों को ही मेरे आत्म–दर्पण में दर्शन कर रहे हैं, आप ! जब से प्राणेश्वर के चारु–चरित्रों की सुधा पूर्ण चन्द्र–चन्द्रिका के किरणों से च्युत कतिपय अमृत विन्दुयें मेरे कर्ण–पुटों मे प्राप्त हुई, तभी से आपके आत्म–संभूत सदगुणों का संस्पर्श व संग होना प्रारम्भ हो गया था। नाथ के श्री चरणों में मेरी देह–इन्द्रियाँ, मन–बुद्धि और आत्मा अर्पित हो चुकी थी सारे अन्तःकरणों समेत किंकरी की आत्मा अपने आतमरमण का स्पर्श करती थी। समय आने पर दासी की देह को आपके देह का संप्रकर्ष–स्पर्श भी सुलभ हो गया, इसलिये मुझे आपके स्पर्श और कृपा से, वही रस अनुभव में आया जो भगवद्रस से होना चाहिये। क्योंकि भागवत–शिरोमणि आप में और आपके हृदयबिहारी भगवान में भेद नहीं है। भगवन ! साधु–समागम रूपी सच्चा–पारस तो अपने से स्पर्श करने वाली कुधातु को कंचन नहीं अपितु पारस ही बना देता है, जिसका अनुमोदन श्रुति–शास्त्र और सभी संत करते हैं, आपसे भी यह अविदित नहीं है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : मेरा स्वयं का अनुभव है, प्रिये ! आपके स्पर्श-रस की विलक्षण-आनन्दानुभूति परमार्थ की ओर आकर्षित कर अग्रसर करने वाली है। निःसंदेह जिसका एक मात्र कारण, आपकी परमार्थ-प्रियता ही प्रमाणित होती है, तभी तो आपको मेरे स्पर्श-सुख में भगवद्रस के रसिकों की तरह नित्य नव-नव अनुभवानन्द की आढ्यानुभूति आभासित होती है। अहा.....! मैं धन्य हो गया ऐसी जीवन-संगिनी को पाकर, मेरी परमार्थ-पद-प्राप्ति की आशा-वेलि एक दिन अवश्य गृहिणी-शाख के सहारे संवर्धित होकर, सौरभ से संयुक्त आकर्षक-पुष्पों और फलों से परिपूर्ण हो जायगी।

श्री सिद्धिजी : प्राणधन ! सुन्दर-सुगंधित-पुष्पों और मधुर-मधुर-रस पूर्ण फलों से युक्त वेलि, जिस सूखी और नीरस-लकड़ी में लिपट कर प्राप्तव्य का अनुभव करती है, वह यष्टि धन्य हो गई, कृतकृत्य हो गई, ईश्वर के सौजन्य से उसका जन्म सफल हो गया क्योंकि स्वरूपतः उसका निर्माण केवल सहारा देने (कैंकर्य करने) के लिये ही कर्ता से किया गया था। अस्तु, धन्य पात्री तो मैं हूँ, आप तो परमार्थ-स्वरूप स्वयं सिद्ध महापुरुष हैं।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (मुस्कुराकर) असिद्ध को सिद्ध करने का प्रयास सर्वथा सर्वमान्य है, प्रिये ! किन्तु स्वयं सिद्ध को सिद्ध करने की वार्ता अविद्या और अज्ञान है।

श्री सिद्धिजी : (मंदस्मिति के साथ) धृष्टता क्षमा हो नाथ ! साक्षात् भगवती श्री जी, जिसकी निधि हैं तथा जो श्री "श्री जी" का स्वयं निधि है, उस परमार्थ-स्वरूप परमार्थ वेत्ता बड़भागी का सेवन, सभी सिद्धों और असिद्धों के लिये अनिवार्य और वाञ्छनीय है क्योंकि उस सेवनीय की सेवा की अवहेलना करने से सिद्ध गण भी असिद्ध के रूप में दिखाई देने लगते हैं तथा सेवा में सर्व-समर्पण करने मात्र से असिद्ध-लोग, सिद्ध के रुप में परिवर्तित हो जाते हैं। अस्तु दासी की शोभा निश्चय नाथ के युगल पाद-पद्मों की अनुरक्ति पूर्ण स्वार्थ हीन सहज सेवा में ही है, प्रभो !

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये ! सत्यता, प्रियता और सर्वभूत-हितयता से सम्पन्न आपकी वाक्पटुता सुनते ही बनती है, जिसमें सूक्ष्मातिसूक्ष्म गहनातिगहन कर्म, ज्ञान, भक्ति, प्रपत्ति और प्रेम का निर्वाह सन्निहित रहता है।

श्री सिद्धिजी : प्राणनाथ ! न मैं कुछ न मेरी चातुरी। जो कुछ है, वह कल्याण-स्वरूप कलानिधि की कला-कुशलता है। आपही के प्रकाश से यह अंधकारमयी कुटिया प्रकाशित हो रही है, इसमें इस तुच्छ सेविका का क्या महत्व ।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : मेरी हृदय-हर्षिणी प्रियतमे ! मुझ पर आपकी अनुरक्ति अनन्त और अनिर्वचनीय है। मुझसे वियुक्त होकर किंचित काल रहने में आप असहिष्णु हैं। आपको अपने माता-पिता और भाभी-भ्राता के आग्रह से जब-जब पितृ-गृह गमन करने का अवसर आता है, तब-तब मन को मेरे पास ही छोड़ जाती हैं, यह मुझसे अविदित नहीं हैं।

श्री सिद्धिजी : प्राणेश्वर को छोड़कर प्राणों का छटपटाना तो स्वाभाविक है, स्वामिन्। इसमें प्राणों की क्या प्रशंसा ? सूर्य के बिना कमल का अविकसित रहना प्रकृति के अनुकूल ही है। एकाङ्गी-प्रेम की तो यह कथा है और जहाँ दोनों परस्पर सर्व-समर्पण कर एक-दूसरे में अनुरक्त हों, वहाँ का प्रेम तो अकथ और अपार ही होगा। यह सब आपके लोकोत्तर गुणों और अहैतुकी-कृपा का ही प्रदर्शन है, प्रभो !

श्री लक्ष्मीनिधिजी : आपके हृदय में कितना प्रभु-प्रेम भरा है, प्रिये ! जिस की प्रकाश-किरणें आपकी देह-इन्द्रिय-मन-बुद्धि और व्यवहारादि से फूट-फूटकर अनवरत प्रकाशित होती रहती हैं। आपके स्पर्श किये हुये अन्न-जल-वस्त्र और आभूषण-आसनादि को ग्रहण कर, मैं स्वयं स्नेह-नदी में गोते लगाने लगता हूँ, तो आपके इस अलौकिक-शरीर-सम्पत्ति के दर्शन एवं आलिंगनादि से क्या होता होगा ? आप अनुमान के द्वारा स्वयं अनुभव कर सकती हैं।

श्री सिद्धिजी : मानद ! पुनः मेरी प्रशंसा में संलग्न हो गये। किसी मिट्टी की कलशी से भरा हुआ घृत, स्वाभाविक सूक्ष्म होने से फूटकर उसके बाहरी आवरण में दृष्टिगोचर होने लगता है, आप ही बतलायें कि इसमें कलशी की बड़ाई है या घृत की।

मेरे प्रीतम ! आप अपनी अनुकम्पा से मुझे अंगीकार करके, अपनी प्रियतमा के देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और आत्मा में समा गये हैं। अस्तु, दासी के वाह्य-करणों से आप ही का प्रकाश प्रस्फुटित होता हुआ, कुम्भ-सूर्यवत, नेत्र-सूर्य का विषय बना हुआ है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : आपकी अद्‌भुत-वाणी का ग्रहण साधारण समझ वाली बुद्धि का योग्य विषय नहीं है, प्रिये ! कितने तथ्य की तात्विक-बातों को आपकी वाणी वरण किये रहती है। अच्छा, हम में आप और आप में हम तथा हम और आप में, हमारे प्रियतम प्रतिष्ठित हैं। अब तो कोई झगड़े की बात नहीं है। न हम रहे न हमारा न आप रहीं न आपका। उत्तम और मध्यम पुरुष की नहीं, अन्य पुरुष की सत्ता ही सर्वमान्य है। वह ही मैं मेरे में और तू तेरे में सर्वतः समाया हुआ प्रकाश में आ रहा है। अब संध्या का शुभप्रद समय हो गया है, अस्तु आह्निक-कृत्यों का संपादन करना चाहिये।

श्री सिद्धिजी : संध्या की बेला सखे आई।
हरि सेवा अधिकार हेतु अब, तेहिं निर्वाहहु जाई।
श्रुति मर्याद लोक को संग्रह, रक्षहिं प्रभु चित चाई।
हर्षण सिद्ध भई यह सिद्धी, जनक-सुवन पति पाई।

हाँ, हाँ, प्राणधन ! परमात्मा को प्रिय लगने वाला तदर्थ निष्काम-कर्म करना ही तो हम लोगों का कर्त्तव्य है, अस्तु, उसका निर्वाह भली-भाँति होना चाहिये।

(नित्य कर्म के लिये दम्पति का प्रस्थान.....)

पटाक्षेप

....

एकोनविंशः दृश्यः १९

(श्री सिद्धिकुँअरिजी अपने प्राणपति श्री लक्ष्मीनिधिजी के साथ महल में बैठी हुई, परस्पर चर्चा कर रही हैं।)

श्री सिद्धिजी : प्राणधन ! वात्सल्य-भाव से सर्वभावेन भावित मेरे सास-श्वसुर अपने अत्यन्त लाड़-प्यार से मेरा पालन-पोषण उसी प्रकार कर रहे हैं, जैसे नैहर में निज के जननी-जनक करते थे। अस्तु, पितृ-गृह और श्वसुर-गृह में मुझे कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता। आधिक्य है, तो आप व श्री किशोरीजी से स्निग्ध पूर्ण स्नेह प्राप्ति के

बाहुल्य का, किन्तु मुझसे आपके माता-पिता और गुरुदेव का कैंकर्य कुछ बन नहीं पाता, यत्किन्चित हो जाता हो तो, वह आप व उनके अनुकूल होता है या नहीं, मैं कुछ समझ नहीं पाती।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रेम पूर्वक सुचारु रूप से आपके द्वारा की गई सेवा, हमारे माता-पिता एवं गुरुदेव के वदनाम्भोज को विकसित करने के लिये सूर्य के सदृश और परम प्रसन्नता की अनुभूति कराने के लिये प्रियकर सुधाकर के समान है, प्रिये ! यह हृदय हर्षिणी वार्ता गुरुजनों के मुख से कई बार मुझे सुनने को मिली है। मेरा स्वयं का अनुभूत-अभिज्ञान है, कि आपकी उठनि, बैठनि, चलनि, चितवनि, बोलनि, मिलनि, रहनि, कहनि, करनि और सेवनि इत्यादि सभी चित्ताकर्षक-चेष्टायें मेरे मन को महान मधुर व प्रिय लगती हैं, प्रियतमे ! क्यों कि आपके सभी व्यवहार शास्त्र-संमत तथा सत्य से पूर्ण और चन्द्र के समान प्रिय हैं, जो उत्तम कोटि की आर्या नारी के अनुकूल आचरण में ही परिलक्षित होते हैं।

श्री सिद्धिजी : प्यारे ! मुझे प्राणों से प्रिय लगने वाली श्री राजकिशोरीजू अपनी अनुजाओं समेत अपनी भाभी के कृत्यों से प्रसन्न रहती है क्या ? इस विषय में हृदय-हर्षण जू की जानकारी हृदय को हर्षण करने वाली हैं या नहीं ?

श्री लक्ष्मीनिधिजी : मेरी आत्मा में अत्यन्ताह्लाद भरने वाली भार्ये ! यह सब आपसे अदृष्ट और अज्ञापित नहीं है, फिर भी अपने प्रेयस के मुख से श्रेयस वाणी को कर्ण-विषय बनाना चाहती हैं, तो श्रवण करें....! मेरी लाड़िली सीता, हार्द-स्नेह से सराबोर आपके परम प्यार को प्राप्तकर, इतनी सुखी रहती है, कि मैं और मैया-दाऊ भी भूल जाते हैं उसे। अनुजाओं के पास बैठकर भाभी-प्रेम की चर्चा कर विभोर बन जाना, सीता का सुन्दर शीतल स्वभाव सा बन गया है प्रिये !

श्री सिद्धिजी : (नेत्रों में जल भरकर संकोच के साथ....) मेरे जीवन धन ! इस दासी से अपनी ननँद की स्नेह पूर्ण सेवा क्या हो सकती है ? वही अपनी समझकर, अपनी प्रेरणा से भले कुछ कैंकर्य करालें, जैसे अंगी अपने अंग से अन्यथा यह जड़भूता ही है। मेरी चर्चा कर वे विभोर बन जाती हैं, यह उनके सर्व -सौलभ्य, जन-वात्सल्य और औदार्य गुण की पूर्णता है, नाथ ! निमिकुल नन्दिनी की दिनचर्या ही दीनों के दैन्य का दमन करने वाली है, जिसमें उनकी अहैतुकी कृपा का दर्शन पद-पद में दृष्टिगोचर होता रहता है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये ! अहंकार वियुक्त स्वार्थेच्छा से अछूता प्रेमास्पद के मुखोल्लास को बिवर्धन करने वाला कैंकर्य ही तो कैंकर्य है। कर्तापन के अभिमान से दूषित और स्वसुख की कामना की कुभावना से भावित कलंकित कैंकर्य विलासी वणिकों का व्यापार है।

श्री सिद्धिजी : प्राणनाथ ! अपनी अनुभूत वार्ता कहती हूँ, आपके सम्पूर्ण अनुजों में आप ही के गुण-गणों का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, आपकी अनुकूलता की तो सभी साकार मूर्ति हैं। श्री राजकिशोरीजू को जैसे वे बहुत प्रिय हैं, वैसे ही श्री लाड़िलीजू उन सबको प्राणाधिक प्यारी हैं। आपके प्रति उनके सुन्दर-स्वर्णार्घ-भावों को कहना ही क्या है। मेरे प्रति भी उनकी श्रद्धा भक्ति किन्चित कम नहीं, अपनी माता में सच्चे पुत्र का जैसा उच्चतम भाव होना चाहिये, वही श्रद्धा वही मान्यता और वही भाव-भक्ति मुझ पर, मेरे सभी देवर लोगों की है, प्रभो !

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये ! मेरे सभी बन्धुगण मुझे भगवान से प्रसाद रूप में इसलिये प्राप्त हुये हैं, कि मैं उनके बीच बैठकर हरि–चरित्र–रूपी–रस का पान कर, आनन्दाम्भोधि में गोता लगाया करूँ। भगवद्‌भागवतानुराग उन लोगों का अनिर्वचनीय है, अनुभव में ही उसका परिज्ञान संभव है। सर्वश्रेय गुण–गण–निलय भगवान की ओर से आये हुये, गुणों के प्रकाश से वे सब प्रकाशित हो रहे हैं। मुझ में व आप में उनकी जो अनुरक्ति पूर्ण असाधारण सुन्दर भावनायें हैं, वे मेरे व्यक्तित्व से नहीं, अपितु निमिकुल के स्वाभावानुरूप हैं। आप देखती होंगी कि हमारे पितृव्यों का हमारे जननी और जनक के प्रति कैसा अप्रतिम–आदर्श उपस्थित करता हुआ, शास्त्र संतानुमोदित भाव पूर्ण व्यवहार है, तदनुसार उनके पुत्रों का भाव हमारे प्रति होना स्वाभाविक हैं, मनोरमे !

श्री सिद्धिजी : आर्य ! पारिवारिक आनन्द इसी को कहते हैं, कि परिवार के लोग निष्कपट, निःस्वार्थ और प्रेम पूर्ण व्यवहार द्वारा लोक में एक–दूसरे का साथ दें तथा परस्पर परमार्थाभ्युदय करा के सर्वश्रेष्ठ श्रेयेश्वर की प्राप्ति करा दें।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : परस्पर एक–दूसरे के प्रेम–रज्जू में बधे हुये, परमार्थ–पथिकों का परिवार परमात्मा की अहैतुकी–अनुकम्पा से ही सुलभ होता है अन्यथा अत्यन्त दुर्लभ है, प्रिये। इस निमिवंश की परम्परा में भगवान–भूत–भावन की कृपा एवं योगेश्वर–ज्ञानगुरू–याज्ञवल्क्य जी महाराज के प्रसाद से शाश्वत–सुख–संयोगी, सच्चे सहायक परिवार की प्राप्ति सदा से होती चली आ रही है, जिसकी त्रिभुवन–विदित प्रख्याति वेद–पुराणों में प्राँकित है।

श्री सिद्धिजी : जीवनधन! मेरे भाग्य का दिव्य–द्वार आप श्री के अंगीकार कर लेने से खुल गया। अपने प्यारे के प्रसाद से ही सभी स्वजनों एवं गुरुजनों का कृपा–पूर्ण स्नेह प्राप्त कर रही हूँ, मेरे प्रति पुरजन व परिवार के लोगों की चेष्टायें, हमारी हित पुरस्सरा होकर स्नेह के गहरे पुट से संप्रभावित होती हैं।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रियतमे ! आपका निर्माण, निर्माता ने अपनी विशिष्ट बुद्धि के द्वारा विशेष विमर्श के साथ किया है, जिसकी धवलता में कालिमा का किंचित–बिन्दु भी नहीं लगने दिया इसलिये आप सहज शुद्धा और सिद्ध–स्वरूपिणी सन्नारी हैं, इसमें सन्हेद नहीं कि आपको प्राप्तकर हम समेत, हमारा परिवार अपने को प्रभु का कृपा–पात्र समझता है।

श्री सिद्धिजी : प्राणनाथ तो स्वयं सिद्ध, शुद्ध–बुद्ध–सनातन सच्चिदानन्द स्वरूप है1 जहाँ अनेकों सिद्धियाँ, भुक्तियाँ, और मुक्तियाँ द्वार में शिर नत सम्पुटान्जली खड़ी होकर खवासी करने के लिये ललचाती रहती हैं, वहाँ बनने–बिगड़ने की वार्ता भी व्यर्थ और अनुपादेय है, प्रभो ! प्रसव और प्रति–प्रसव तो प्रकृति में ही संभव है, अप्राकृततत्व का कोई निर्माता नहीं। हाँ, प्रकृति–संयोगिनी सिद्धि कुँअरि का निर्माण कर्म के अनुसार निर्माता अवश्य करता होगा।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये! आपकी सूक्ष्म–बुद्धि का कौशल्य बड़े–बड़े बुद्धिमानों से भी स्पृहणीय है। वाक्पटुता को कहना ही क्या है। ऐसा लगता है, कि जैसे साक्षात् सरस्वतीजी व्यक्तियों के आगे व्यक्तिगत स्वयं अपनी वाणी व्यक्त कर रही हों।

श्री सिद्धिजी : (कर्ण दबाकर) बहुत हो गया, मानद ! अब अधिक बड़ाई करके मुझे विशेष विलज्जित न करें, कदाचित ज्ञान के अभिमान से मेरी आत्मा के बंधने

के लिये, यह प्रशंसा उपाय न बन जाय प्रभो ! मुझे तो जाति–स्वभाव से सामर्थ्य–हीन होने के कारण, अबला संज्ञा शास्त्र और श्रेष्ठ पुरुषों से सहज संप्राप्त है, फिर बुद्धिमती की मोहर छाप अपने ऊपर आरोपित करना, क्यों कर स्वीकार करूँ। आप अपने सौम्य–स्वभाव से विवश होकर अपने से नीचों को भी अत्यन्त आदर और सम्मान प्रदान किया करते हैं। बलिहारी आर्य नंदनजू के शील स्वभाव की !

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रियतमे ! विधि–हरि–हर की सृजन, संरक्षण और संहारात्मक–शक्तियों का संस्थान पाकर भी आप में अभिमान और अहंकार का प्रादुर्भाव कभी संभव नहीं हो सकता, ऐसा मेरा निजी अनुभव है, क्यों कि आप भगवत–कृपा से सर्वदा सुरक्षित हैं। इससे अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश का बीज भस्मीभूत हो जाने से अहंकार के न होने का भी अहंकार आप में अविद्यमान है।

श्री सिद्धिजी : प्राणनाथ ! मैं आप ऐसे महाभागवत की धर्मतः प्रिय किंकरी हूँ। मुनि–कुल–कमल–दिवाकर देव–मूर्ति सहज विरागी श्वसुर की पुत्र वधू हूँ। सुकृत, सुयश–सुख और सौंदर्य राशि को एकत्रित करके विधि से विरचित सासु की पतोहू हूँ। उमा, रमा, ब्रह्माणि–वन्दिता विदेह–वंश वैजयन्ती ननँद की भाभी हूँ और नाथ का अनुगमन करने वाले, दैवी–सम्पत्ति से संयुक्त देव–तुल्य भगवद्भागवतानुरागी आपके अनुजगण मेरे देवर हैं, तो दासी के स्व–स्वरूप में स्थित हो जाने में आश्चर्य ही क्या ? पारस के स्पर्श से कुधातु के कंचन बन जाने में, पारस ही प्रशंसा का पात्र है, प्रभो ! कठोर कर्म करने वाली कुधातु नहीं।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये ! हमारा और आपका पारिवारिक भाग्य एक समान ही है, उसमें फल की तारतम्यता में न्यूनाधिकता नहीं। यदि मैं आपको प्राप्त हुआ, तो आप मुझे प्राप्त हुई , फिर भी अपनी प्रियतमा भार्या में मुझे अपनी आत्मा को आह्लाद प्रदान करने वाले लोकोत्तर गुणों का संग्रह सहज ही में सुलभ है। कीर्तिवन्त की कीर्ति का चिन्तन करना, कीर्तिवन्त को मोह उच्छृंखलता और स्वेछाचार में प्रवेश कराने के लिए नहीं वरन् अपने आत्मोत्थान और सुख के लिये है। कीर्तिवान निज की कीर्ति से उसी प्रकार अलिप्त रहता है, जैसे जल से कमल।

श्री सिद्धिजी : प्रभो ! जब मेरे प्राण–पति स्वयं मेरी रक्षा करने में कटिबद्ध हैं तब अपनी रक्षा का स्वयं अनुसंधान करना, स्वरूपानुरूप परतंत्रता को प्रनष्ट करना ही है। प्रियतम को मुझे सराहने में यदि सुख होता है तो मैं नाथ की दी हुई बडाई को बिना अहं के सतत शिरसा धारण करने के लिये उद्यत हूँ। नाथ को मुझे सतत सुखी देखने में सुखानुभूति होती है इसलिये सर्वदा सुखी बनी रहती हूँ मैं, यदि प्यारे मुझे दुखी देखकर प्रसन्न रहें तो मैं सर्वदा दुसह–दुख का आनन्द के साथ आलिंगनकर अपना सौभाग्य समझूँगी। अधिक क्या कहूँ ? जिस–जिस प्रकार से मेरे स्वामी को मुझ से सुख संप्राप्त हो सके, उस उस प्रकार से त्रिकरण बन जाना, सेविका का सहज स्वरूप है। मुझे तो आपके उद्देश्य से उद्दीप्त तथा अनुप्राणित होकर, आपके सुख–सुविधा के लिये शरीर धारण करना श्रेयस्कर है। यही दृढ़–निश्चय मेरा धारक है, प्रेम पूर्ण कैंकर्य ही पोषक है और प्रियतम का मुखोल्लास–दर्शन ही दासी का भोग्य है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : हे परमार्थ स्वरूपिणीजू ! भगवान के अतिरिक्त 'वाह्य' का ज्ञान सम्पूर्णतया निःशेष हो जाने पर ही यह विधि–निषेधातीत फल–स्वरूपा स्थिति

उपलब्ध होती है अन्यथा सभी श्रौत और स्मार्त–कर्म फलानुसंधान के कारण जीवात्मा को संसृति–चक्र में डालकर संसार की ही वृद्धि करते हैं। परमात्मा की परम अनुकम्पा ने आपको वेदांत–सिद्धांत की अभिमुख्यता प्रदान की है और बड़े वेग से उस परम–तत्व में प्रतिष्ठित करने के लिये आपकी बाल्यावस्था से ही सर्वदा संलग्न है, यह हमारा दृढ़ विश्वास है अन्यथा सर्वश्रेष्ठ साधनों के द्वारा भी आप्त कामत्व, अनन्य प्रयोजनत्व तथा प्रभु–प्रेम–पूर्णत्व स्वरूप सर्वाङ्गीण सिद्धि देव–दुर्लभा है।

श्री सिद्धिजी : प्राणनाथ की प्राप्ति होकर आसक्ति पूर्ण स्व–स्वामि के आनंद–विवर्धन हेतु कैंकर्य करने में अत्यन्त रुचि हृदयेश्वर–पद–पंकज–पराग–भ्रमरी इस दासी के हृदय में क्षण–क्षण वृद्धि भाव को प्राप्त होती जाती है, इससे यह अविचल–प्रतीति मुझे भी है कि भगवद्‌भागवत की अहैतुकी–कृपा ही इसमें प्रमुख कारण है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रियतमे ! बस हमारी और आपकी चर्चा का सार–सिद्धांत भगवत–कृपा को प्राप्त करना है, उसके बिना परमार्थ वस्तु का दर्शन स्वप्न में भी दुर्लभ है, हम और आपसे यत्किंचित परमार्थ सेवन बन पाता है, वह परम प्रभु की कृपा का परिणाम है, अस्तु, उपकार–स्मृति करते हुए, उन्हीं के चरणों में अपना शीश समर्पित कर कृतज्ञता प्रकट करते रहें, भविष्य में जैसा निर्माण हमारा उन्हें अभीष्ट होगा, स्वेच्छा पूर्ण करेंगे। हम आत्म–निवेदन कर देने के कारण अनन्य प्रयोजनतया लोक–वेद की हानि से निश्चिन्त होकर,उन्हीं के कैंकर्य परायण बने रहें, इतना ही प्रपन्नाधिकारी–कृत्य है। अच्छा, प्रिये, प्रभु से कृतज्ञता प्रकट करने का द्योतक कोई पद गायन करें, तो आनन्द आ जाय।

श्री सिद्धिजी : नाथ के आनन्द–विवर्धन हेतु दासी का उपयोग किसी प्रकार हो जाय, इसी में आपकी अनुचरी की कृतकृत्यता है, अच्छा, विनय सम्बन्धी वाक्यों से बद्ध गीत, तन्त्री के स्वर के साथ श्रवण करें, प्रभो !

[वीणा बजाती हुई, आर्त्त प्रार्थना में तन्मय मधुर स्वर में गाती हुई।]

पद : हरिजू विनय करत यह दासी।
साधन–धाम मोक्ष को द्वारो, दियो देह अनयासी।।
रूप–शील–गुण–गेह वीर वर, पति पायों करतार।
जेहि के प्रेम प्रकाश को पाई, हृदय भयो उजियार।।
शेष–शारदा वरणि सकै नहि, तव उपकार अनेक।
मैं किमि कहौं बुद्धि की भोरी भक्ति न विरति विवेक।।
तव पद–पद्म को आश्रय चाहति, पुनि–पुनि नावउँ शीशा।
वसि कर–कमल छाँह है अभयी, सह पति के जगदीशा।।
मुखोल्लास प्रभु को गुनि भोगा, भोगहिं प्राण पियारे।
करि कैंकर्य रहै रुख जोगवत, हर्षण हेतु तिहारे।।

[प्रेम–पूर्ण विनय वाक्यों की विह्वल–भावना में अपने मन को स्वाभाविक तन्मय कर कृतज्ञता प्रगट करते–करते कुँअर भाव–विभोर होकर आत्मविस्मृति की शय्या में लीन हो गये।]

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (कुछ काल के पश्चात प्रकृतिस्थ होने पर...) प्रिये ! इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की निवृत्ति हरि ही के हाथ है। हमारा कृत्य केवल अनन्य

रक्षकत्व का अन्तराय रहित अनवरत अनुसंधान करना है। मन में पूर्णतया प्रतीति है, कि अपने आचार्य देव की कृपा से एक दिन मेरी आत्मा में रमण करने वाला जगदात्मा राम चर्म-चक्षुओं का विषय बनकर अपना कैंकर्य प्रदान के लाभ से अपने किंकर-किंकरी को वंचित न रखेगा।

श्री सिद्धिजी : प्राणनाथ के श्री मुख में अमृत का घोल सर्वदा पड़ता रहे। जय हो, जय हो, जय हो जीवनधन जू की... सदा जय हो। अहा...! अगोचर-परब्रह्म-परमात्मा हमारे प्रियतम के प्रेम से गोचर बनकर नयनों का विषय बनेगा, मैं भी भक्त और भगवान को परस्पर प्रेम में पगे हुये प्रेमालाप करते देखकर, कृतकृत्य हो जाऊँगी। अहा...! कितने आनन्द की अनुभूति होगी? वह देश-काल, वातावरण किससे किस रूप में परिवर्तित हो जायगा। प्यारे ! अपनी दासी को भगवत की प्रत्यक्ष प्राप्ति हो जाने पर अपनी सेवा से पृथक न करेंगे। हाय....! कहीं नाथ अनुचरी से उदासीन हो गये तब तो मेरी आत्मा का शतधा विनाश ही संभव होगा प्रभो.....।

[यह कहकर श्री सिद्धिजी पति-पद-पद्मों में पड़कर साश्रु-विलोचना विनय करती हुई, प्रेम-वैचित्र्य की स्थिति में आकर हा प्रियतम ....। हा प्यारे.....। हा प्राणधन....। हा हृदयेश्वर....। मुझे छोड़कर कहाँ चले गये ? हाय..... दासी की दयनीय-दुर्दशा को देखकर दया-सिन्धु पहले की तरह दया क्यों नही करते ? इत्यादि प्रलाप करती हुई श्रीधर कुमारी चेतना हीन सी हो जाती हैं।....]

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (उपचार के द्वारा सचेत कर अपने हृदय से लगाकर, अश्रु पोंछते हुये) प्रिये! आपके प्रेम की पराकाष्ठा का दिव्यदर्शन आज अकस्मात ही मुझे हो गया। आपका अनुरागी-मन मेरे क्षण भर की विरह-कल्पना करने में भी असहिष्णु है, वास्तविक विरह में तो ब्रह्मा ही जाने क्या होगा? लगता है कि वियोग की दसों-दशायें आपका वरण करके, आपको मुझ से वियुक्त न कर दें। हे प्राणवल्लभे ! मुझे आप प्राणों से अधिक प्रिय हैं। आपसे उदासीन होना असह्यापचार समझता हूँ मैं, क्योंकि मेरी प्रियतमा परम भागवता हैं, मेरे हृदय में प्रभु-प्रेम का उत्कर्ष करने वाली, स्वयं प्रेम की प्रतिमा हैं। प्यारी को मन से भी त्यागने का विचार करते ही, मुझे मेरे हृदयेश्वर अपने हृदय से सदा के लिये अलग कर देंगे, अस्तु, आपको ऐसी कल्पना और आशंका स्वप्न में भी नहीं करनी चाहिये। कोई भगवद्भक्त भगवान को प्राप्तकर भागवतों की उपेक्षा से भक्तों की कोटि में नहीं गिना जा सकता और न प्रभु उसके सामने प्रेमास्पद बनकर आने में समर्थ हो सकते हैं क्योंकि भगवद्दर्शन का चरम फल भागवद्दर्शन तथा सेवन और उनके सतसंग का लाभ ही है फिर आप मेरी अर्धाङ्गिनी और आत्मा से अभिन्न सहधर्मिणी सहचरी हैं, अस्तु, जहाँ मैं हूँ, वहाँ आप अवश्य हैं। जानती हुई भी प्रेमौदार्य के कारण व्यर्थ की शंका से आपने अपने को संशय-ग्रस्त शोक से आसक्त करा लिया, प्रिये ! अपनी हृदय-हर्षिणी को अपने हृदय और नेत्रों से पृथक करने का स्वप्न भी मैं नहीं देखता। जो पत्नी अपने आचरण से पति को परमेश्वर बनाने वाली है, उस परम प्रतिभा-सम्पन्न सन्नारी को छोड़कर, कोई भी प्रेय से श्रेय की यात्रा में सफल नहीं हो सकता !

श्री सिद्धिजी : अहा ....! अपराधिनी ने भविष्य को संदिग्धी-सरिता में विसर्जन कर स्वयं को बहा दिया और अपने आत्मरमण प्राण-प्रियतम के लिये अपनी प्रियतमा को स्वप्न-समुत्पन्न, शोक-सागर से समुद्धार हेतु व्यर्थ परिश्रम प्रदान किया। क्षमा करेंगे नाथ!

किंकरी के अपचार को। मुझे अपने मन की परम प्रतीति है, कि आप अनेकानेक अपराध करने पर भी, अपनी सेवा से सेविका को त्रिकाल में वंचित नहीं कर सकते।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : श्रद्धा और विश्वास ही तो परम सिद्धि के संयोजक हैं, जीव मात्र को इनको अपने से पृथक कभी न करना चाहिये। अच्छा, आप यहीं अपनी दासियों के साथ, आवश्यकीय परिचर्या करें, मैं परम पूज्य श्री पिताजी के दर्शन हेतु जा रहा हूँ।

(श्री सिद्धिजी प्रणामकर मंगल-वाक्यों के साथ विदा देती हैं।)

पटाक्षेप

....

विंशः दृश्यः २०

[श्री सिद्धिजी अपनी सखी-सहेलियों के साथ सिद्धि-सदन में विराजी हुई, श्री विदेह-कुमार के गुणों का अनुभव कर रही हैं।]

श्री सिद्धिजी का पद गायन : चित्रे धनि मिथिलेश कुमार ।

गुण-गण निलय स्वधर्म-परायण, भगवद्भक्त उदार ।
प्रेम मूर्ति ब्रह्मण्य ब्रह्मविद, विरति विवेक अगार ।
कुल-अनुरूपहिं आत्म विशारद, निमिकुल को सरदार ।
साधु स्वभाव संत गुरु सेवी, हर्षण हिय को हार ।

श्री सिद्धिजी : अरी सखी ! हमारे प्राण-प्रियतम कितने महान और स्वधर्म परायण उच्चकोटि के भगवद्भक्त हैं। उनके सुन्दर-शरीर में प्रभु-प्रेम प्रजनित अष्ट सात्विक-भावों का अभ्युदय होना प्रायः स्वभाव में उतर गया है, वे हरि भगवान के नाम, रूप, लीला और धाम का स्मरण करते ही प्रेम-विभोर बन जाते हैं, मुझे नित्य-नित्य ऐसे दृश्यों के दर्शन करने का सुअवसर आता ही रहता है। अहा....... ! आली.... ! मैं प्यारे का स्पर्श पाकर धन्य हो गई, उनके प्रेम-प्रकाश से प्रकाशित हो गई।

चित्राजी : हे कुँअर-वल्लभे ! आप श्री में भी पति-प्रेम तथा परमेश्वर प्रेम क्या कम है ? मैं तो अपनी स्वामिनीजू को शुद्ध-स्नेह की साक्षात् मूर्ति मानती हूँ। परम भागवत मिथिलेश-कुमार आपके स्नेह-बंधन से विमुक्त होने का जब स्वप्न भी नहीं देखते तो निःसन्देह सिद्ध है कि आपसे रीझा हुआ पूर्णतम-परब्रह्म-परमात्मा भी आपके प्रेम-रज्जु से बँधकर आपसे अपने को अलग न करने में ही आनन्द का अनुभव करता होगा। परमेश्वर की रीझ ही तो प्रकारान्तर से भक्तरीझ के रूप में निदर्शित होती है।

श्री सिद्धिजी : अरी चित्रे ! तुम क्या बक रही हो ? मैं अपने आत्मरमणजू के गुण-गणों का अनुसंधान करके आनन्दानुभव करने बैठी हूँ, कि तुम से अपनी प्रशंसा श्रवण करने के लिए। मुझे प्रसन्न करना चाहती हो, तो प्यारे जू के गुणों के कई रंगीले, रसीले और सजीले चारुतमचरित्रों के चित्रों का चित्रण करके उपस्थित करो।

चित्राजी : हे राजनन्दिनीजू ! आप श्री का वैभव आपके प्राणनाथ जू की स्वयं नित्य की नियत सम्पत्ति है, अस्तु, हमारे स्वामिनी जी की बडाई, उन्हीं के बड़प्पन की

प्रबोधिका एवं द्यौतिका है। प्राणनाथ के गुणों का पूर्णतया अनुभव करने की अधिकृत योग्यता तो आप श्री में है, अस्तु, उसका विशद–वर्णन भी आप श्री के मुख से अत्यधिक एवं मधुरतम रस की सृष्टि करके आनन्द की अनुभूति कराने में सर्वविधि सक्षम हो सकेगा। अस्तु हमारी प्रतीति पूर्ण प्रार्थना है, कि किंकरी के प्यासे–कर्णों की पिपासा शान्त करना आपके अधिकार की वार्ता है।

श्री सिद्धिजी : आली ! अपने पति देव का आचार्याभिमान तो अवलोकन कर अनुभव ही करते बनता है, वह वाणी का विषय नहीं है, चित्रे ! उनके आत्म–समर्पण के विषय में क्या कहा जाय। आत्म–निवेदन के कारण ही वे अपने लोक–परलोक (स्वार्थ–परमार्थ) को चित्त में रखकर चिन्ताहीन हो गये हैं। उन्हें अहं रहित–अनुरक्ति पूर्ण आचार्य के मुखोल्लास–विवर्धक आचार्य–कैंकर्य ही में रुचि है। आत्म–सम्बन्धी वस्तुओं में मेरे प्रियतम को ममाकार की वृत्ति नहीं स्पर्श करती, देह–सम्बन्धी सर्व पदार्थ श्री सदगुरुदेव के हैं, ऐसी उनकी मान्यता है वे अपने आचार्य की आज्ञा से, आचार्य–प्रसन्नता के हेतु बिना किसी हिचकिचाहट के श्री आचार्य देव को, मुझे भी सदा के लिये समर्पित कर देने में परम प्रसन्नता का ही अनुभव करेंगे, ऐसी मेरी परम प्रतीति है।

चित्राजी : तभी तो मिथिलाधिप–नन्दनजू अपने आचार्य देव को सर्व शिष्यों में सर्वाधिक प्यारे हैं। आचार्य–चरण की अनुकम्पा से उनका सच्चा स्वार्थ और परमार्थ उच्चस्थिति में स्थिर होकर सहज ही सिद्ध हो गया है, परम परमार्थ एवं परम पुरुषार्थ स्वरूप भगवत्–कैंकर्य प्राप्ति तथा भगवत् स्नेह प्राप्त करना भी उन्हें शेष नहीं रह गया है। वे कुलानुरूप अपने पिता के समान परम विरागी–योगी और ज्ञानी बनकर ब्रह्म–विद–वरिष्ठ हो गये हैं। आचार्य–प्रसाद से सभी राजर्षियों, ब्रह्मर्षियों और देवर्षियों से कुमार को वही सम्मान प्राप्त है, जो उनके पिता, पितामह और प्रपितामह को प्राप्त था। भगवद्भागवतानुराग में इनको विशेषाधिकारी बतलाकर वर्णन करने में कोई अत्युक्ति न होगी। सुस्मिते ! अधिक क्या कहूँ। आपके प्रियतम के समान, एक आपके प्रियतम ही हैं। सुनैनानन्दवर्धनजू का अपना एक अलग व्यक्तित्व–वैशिष्ट्य और वैलक्षण्य है।

श्री सिद्धिजी : (कुमार के गुणों को श्रवणकर आनन्द मग्न होकर....) सखी ! "प्राणनाथ मेरे हैं या मैं उनकी हूँ" कहने–कहलाने का सौभाग्य अपने किसी सुकृत का परिणाम नहीं है, आदि–शक्ति महालक्ष्मी की कृपा तथा नृपति–नन्दन जू की अहैतुकी–अनुकम्पा ही इसमें उपाय है। आली ! इतने महान होते हुये भी, मेरे जीवन–धन कितने सरल, सरस और शील–निधान हैं, अपनी प्रभुता का तो उन्हें स्मरण ही नहीं है। परिजन–पुरजन और जनपद तथा देश–विदेश निवासी निम्न–श्रेणी के लोगों को भी कैसे प्रेम से आदर देते हुए मिलते हैं, इसमें उनके सर्व सौलभ्य, वात्सल्य और सौशील्यादि गुणों का प्रत्यक्ष प्रेक्षण होता है। शम–संतोष–सतसंग और विचार रूपी चार स्तम्भों से विनिर्मित मंडप में निवास करने से ही वे इतने महान हैं। इंद्रिय–निग्रह, क्षमा, दया, करुणा, कृपा और अहिंसा, अचौर्य, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य तथा सत्यादि सर्व श्रेयातिश्रेय–गुण उनको स्वयं वरण किये हुए हैं। ऐसी प्रतीति है कि भगवान के अनंतानंत–दिव्य–गुण ही भक्त के हृदय को, अपना भवन बनाकर प्रकाशित होते हैं, जिसका समर्थन श्रुति–शास्त्र एवं सभी संत करते हैं। जब सर्वेश्वर, हमारे हृदयेश्वर के हृदय को अपनी क्रीड़ा–स्थली बनाकर वास

करने लगा, तो उस परमेश्वर के गुण भी अपने प्राणेश्वर का परित्याग करने में कैसे समर्थ हो सकते हैं, अधिक क्या कहूँ, चित्रे ! मेरे प्रियतम ही तो भगवान हैं और भगवान ही तो अपने प्रियतम हैं। अपनी अम्बा से पढ़ाया हुआ यह पाठ कण्ठ से उतर कर उर में ओत-प्रोत हो गया है।

चित्राजी : कुँअर-वल्लभे ! विदेह-कुमार के हृदय को सूक्ष्मतया अन्वेषण करने पर दिव्य-दिव्य गुणों का दर्शन उसी प्रकार सुलभ हो जाता है जैसे स्वर्ण-मूर्ति में स्वर्ण ही स्वर्ण का। उनमें दोष का दर्शन उसी प्रकार दुर्लभ है जैसे सूर्य में अंधकार का ! अहा.... ! बुद्धिमान-विधिना ने क्या अलौकिक और अनुपम जोरी का निर्मल निर्माण किया है, जैसे सर्वगुण सम्पन्न श्री मिथिलेशकुमार, वैसी ही सर्व दृष्टि से उनके अनुरूप श्रीधर कुमारी। काय-वैभव भी अनुपम और एक-दूसरे के अनुरूप है। आपको स्वप्न में भी अपने प्रियतम के अतिरिक्त अन्य पुरुष की सृष्टि नहीं प्रतीति होती है तो विदेह कुमार भी स्वप्न में अपनी प्रियतमा के अतिरिक्त अन्य स्त्री की सृष्टि दृष्टि-पथ में नहीं पाते। धन्य है, आप युगल-मूर्तियों के पतिव्रत-धर्म और एक पत्नीव्रत-धर्म को। परस्पर की परम प्रीति को, हम सब सखी-सहेलियां देख-देख कर, आप दोनों का मंगलानुशासन करती हुई, सदा शाश्वत-सुख का अनुभव इसी लोक में करती हैं।

श्री सिद्धिजी : प्रियतम का सुन्दर शील स्वभाव किस हृदय को अपनी ओर आकर्षित करने वाला न होगा, चित्रे ! मैं तो समझती हूँ कि प्यारे के मन, वचन और शरीर का स्पर्श पाकर पत्थर को मोम बनते विलम्ब न लगेगा। मुझमें जो भी देखती हो, वह उन्हीं के स्पर्श का प्रभाव है।

दासी : (श्री सिद्धि कुँअरिजी को प्रणाम करती हुई...) स्वामिनीजू के जीवन की जय जयकार...हो ।

श्री सिद्धिजी : आनन्द रहो दासी। कहो क्या समाचार है?

दासी : महाराज मिथिलेश कुमार अन्तःपुर में आप श्री के पास अविलम्ब पधार रहे हैं, यही खबर अपनी स्वामिनीजू को सुनाने आई हूँ और कुछ नहीं।

श्री सिद्धिजी : अहा....! मेरा मन प्राणनाथ के अदर्शन के कारण बड़ी देर से व्याकुलता का अनुभव कर रहा था, प्यासी-आँखें उनके आने की राह कब से आतुर हो देख रही हैं। अच्छा सखी। आरती सजाकर शीघ्र ले आओ।

[श्री सिद्धिजी आगे चलकर कुमार की आरती व प्रणामकर आसन में उन्हें सादर बैठाती हैं और प्रेमपूर्ण पाद्यादि देकर पूजन करती हैं।]

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (पुनः प्रणाम करती हुई सिद्धिजी को आलिंगन कर निकट आसन में बैठा लेते हैं।) प्राण-वल्लभे ! मैं अभी अपनी अनुजा श्री सिया जू के समीप से आ रहा हूँ। अहो....उनके उरस्थल में आपके लिये अत्यन्त स्नेह पूर्ण-आवास बना है, यह उनके विशिष्ट व्यवहार एवं विविध-वार्ताओं के संदर्भ से सुस्पष्ट है। वे तो आपके स्मरण मात्र से प्रेम के सिन्धु में समाविष्ट हो जाती हैं।

श्री सिद्धिजी : (प्रेम-विभोर होकर) अहो ! आत्मा की एक आर्त पुकार है कि मेरी ननँद, अपनी भाभी की आँखों से अहर्निशि ओझल न हों। क्या कहूँ, प्राणनाथ ! आपकी अनुजा को निर्निमेष निहारते हुये भी मेरे लोभी-लोचन तृप्ति की अनुभूति नहीं करते।

श्री राजकिशोरीजू ने अपने उदार–स्वभाव के कारण ही मुझे इतना सम्मान पूर्वक पूर्ण–प्यार प्रदान करने का अपना परम प्रयोजन बना लिया है और ऐसा होने का कारण अन्वेषण करने पर, आपकी अकारण कृपा ही प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में दृष्टिगोचर होती है, नाथ !

श्री लक्ष्मीनिधिजी : हमारी अनुजा का "सीता" नाम कितना शीतल सुमधुर और सुखावह है, प्रिये! लगता है, रसना नाम–सुधा का पान अहर्निशि बिना विराम के करती ही रहे।अपनी किशोरीजी की चरित–चन्द्रिका जब सम्पूर्ण–प्राणिवर्ग को रस–सिक्त करने में समर्थ है, तब अपने निकटतम–प्रान्त में बसने वाले भ्राता–भाभी को क्यों न अपनी ज्योत्स्ना से जगमगाकर वात्सल्य रस की धवल–धारा में बहा दें। प्रिये ! वर्तमान प्रसंग यहीं का यहीं रहने दें यह हम दोनों का दैनिक–मधुराति मधुर–आहार है, इसमें लिप्सा विवर्धन करने के लिये किंचित चटनी का सेवन करना चाहते हैं हम, कहिये आपकी क्या सम्मति है।

श्री सिद्धिजी : नाथ के मन में लेह्य रूपी कौन सी वार्ता करने का विचार है ?

श्री लक्ष्मीनिधिजी : आपकी कही हुई एक वार्ता मेरे स्मृति का विषय बन गई है, उसी के विषय में आपसे कुछ पूछने का मन करता हूँ, प्रिये !

श्री सिद्धिजी : प्राणनाथ के कहने से मेरे कर्णों की आतुरता तो मुझे अधीर सी कर रही है, अस्तु, अपने अन्तर्जगत की वार्ता को वैखरी–वाणी के द्वारा वाह्य– देश में व्यक्त करने की कृपा करें, तो बहुत ही अच्छा होगा।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रियतमे ! एक दिन आपने इस वार्ता का विनियोग किया था, "कि सगुण–साकार भगवान को प्राप्त करके आप मुझसे उदासीन हो जायेंगे। अपनी सेवा का समय न देंगे तथा प्रभु–कैंकर्य में अपने साथ न रखेंगे, तो मेरी क्या दशा होगी।"कहकर प्रेम–वैचित्र्य की स्थिति में आरूढ़ हो गई थीं। मैंने उपचार के द्वारा प्रकृतिस्थ कर आपको अप्रत्याशित आश्वासन दिया था, स्मरण है ?

श्री सिद्धिजी : अपने प्यारे की अत्यन्त–उपादेय–वार्ताओं को कौन सती–साध्वी पत्नी विस्मरण करेगी। नाथ ! कहिये क्या कहना चाहते हैं?

श्री लक्ष्मीनिधिजी : कैसे कहूँ। कोमल–हृदया अपनी प्रियतमा के कर्णों में कठोर–वार्ताओं का प्रवेश कराना उचित नहीं समझता। किन्तु वज्र–हृदय कर यह आपसे पूछना चाहता हूँ, कि यदि मैं अपने धर्म–वृद्धि के लिये आपसे विरत हो जाऊँ तो आप मुझे कोसेंगी क्या ? जैसे गुरुदेव मुझे आज्ञा प्रदान कर दें, "कि तुम पत्नी का परित्याग कर वन का आश्रय ग्रहण करो तथा तपश्चर्या में तल्लीन हो जाओ।" तब मेरे आचार्याभिमान एवं आचार्यानुरक्ति का आदेश होगा कि, "तुम्हें सहर्ष स्व–पत्नी का परित्याग कर एकाकी–वन्य–जीवी बन जाना चाहिये।" उस समय आप के अन्तःकरण से सम्बन्ध रखने वाला धर्म आपको क्या सन्देश देगा ?

श्री सिद्धिजी : मेरे आत्मेश्वर को अपनी भार्या के आन्तरीय–भावनाओं का पूर्ण परिज्ञान है, फिर भी मुझसे सुनने की जिज्ञासा है। अच्छा, श्रवण करें, प्रभो ! प्राणनाथ यदि अपने धर्म–वृद्धि के लिये व स्वेच्छा से स्वसुख के लिये, अपनी किंकरी का परित्याग कर देंगे तो मैं इस त्याग–जन्य–विरह–वह्नि में जल मरने का अपना सहज धर्म और सुख समझूँगी। अपने प्राण धन को स्वप्न मात्र में भी कोसती हुई, उलाहना न दूँगी। प्रियतम के गुणगणों का अनुभव करती हुई, अत्यन्तानुरक्ति से प्राणेश्वर में ही मन–लयकर

लीन हो जाऊँगी ! हाँ विरह–वह्नि मुझे बरबस जला कर भस्म करने में त्याग के प्रारम्भ से ही उतारू हो जाय तो मैं अधीर अबला कर ही क्या सकती हूँ। जानकर, प्राण–विसर्जनादि रूप अनौचित्य–कर्मों का अनुष्ठान नहीं करूँगी। यदि दासी के अपराध से दासी का त्याग हो तो फिर उसका प्रायश्चित प्राण त्याग ही है। नाथ। हमारे जीवन–सर्वस्व, लोक–परलोक में जहाँ रहें, वहीं मन–वचन–कर्म से रहना अपनी आत्मा का चरम लक्ष्य है। आपकी होकर आपके साथ रहते हुये बीच में हरि–इच्छा से जो व्यवधान हो, होता रहे, उसे प्रभु प्रसाद समझकर सादर शिरोधार्य करना एवं शमदमादि षट–सम्पत्तियों से संयुक्त होकर, कालक्षेप करना अपना कर्त्तव्य है। त्रुटियों को क्षमा करेंगे, नाथ ! दासी आपकी शरणापत्र सहज सेविका है, सम्मान देकर प्यार करें या पद–प्रहार करके ठुकरावें, इसे आपको छोड़ कोई अन्य गति नहीं है, स्वार्थ के लिये मुझे चूँ तक नहीं करना है। शरणागति एवं रक्षण का फल भी प्राणेश्वर के लिये ही हो, मेरे लिये नहीं। आज आप श्री के प्रश्न–प्रकार को श्रवण कर हृदय भय से कंपित हो रहा है, प्रभो !

[रोती हुई मूर्छित हो जाती हैं,....]

[श्री लक्ष्मीनिधिजी अपने अंक में श्री सिद्धिजी का शिर रखकर सप्रेम स्पर्श करते हुये, अश्रु पोंछते हैं। उपचार के द्वारा सचेष्ट होने पर अपनी प्रियतमा को प्यार से हृदय में लगाकर...]

श्री लक्ष्मीनिधिजी : मेरी हृदय–हर्षिणी ! मुझे अपने प्राणों से भी अधिक प्यारी है, जैसे शरीर से छाया कभी प्रयत्न करने पर भी पृथक नहीं की जा सकती, उसी प्रकार हमसे हमारी अर्द्धाङ्गिनी किसी अवस्था में अलग नहीं की जा सकती। जैसे यष्टि के सहारा को छोड़कर, वेलि का पतन ही संभव है, वैसे ही परमार्थ–पथ के पथिक मुझको, प्रशस्त–पथ के पार करने में आप जैसी प्रदर्शिका के अभाव में अगमता का ही अनुभव करना पड़ेगा। प्रिये....! मैंने किसी कारणवश या कुछ मन में रखकर आपसे प्रश्न नहीं किया अपितु स्वाभाविक आपके हृद्गत–भावों को श्रवण करने के लिए किया था । आपकी अनुरक्ति पूर्ण–पति–भक्ति तथा भगवद्भक्ति आपकी अचल–कीर्ति की व्यवस्थापिका है। आर्ये! आप मुझे अपने व्यवहार से पूर्णतया संतुष्ट किये रहती हैं। आपके पति–पद में प्रतिष्ठित होने से भाग्य–भाजन बन गया, प्रशंसा का पात्र हो गया। मैं स्वयं आपको विस्मरण करने में असमर्थ हूँ, फिर आपसे वियुक्त होकर कालक्षेप करने की चर्चा ही व्यर्थ है। आपको, अपने प्रियतम से भय उत्पन्न होने की भावना एवं शंका का समूल नाश करके, कभी भी उसका चिन्तन न करना चाहिये।

श्री सिद्धिजी : मेरे हृदयेश्वर का हृदय ही वास्तविक हृदय है, जिसमें केवल परमोत्कृष्ट–प्रेम का ही दिव्य–दर्शन किया जा सकता है। जो पत्नी पति के रक्षकत्व को भूलकर अपने प्राण–पति से भयभीत है, वह पति शब्द का रहस्यार्थ न जानकर, पतिव्रत–धर्म के धौत–वस्त्र में कज्जल की रेख लगाती है। प्राणनाथ से मुझे भय नहीं है किन्तु क्या करूँ ? विरह का स्मरण भयभीत किये बिना नहीं रहता। जैसे, "पितृ–गृह जाना है" मन में आते ही आँखें आकुल–व्याकुल होकर अश्रु–विमोचन करने लगती हैं, उसी प्रकार आप श्री के प्रश्न में यह व्याहत–वाक्य श्रवण गोचर हुआ कि यदि, "धर्म–वृद्धि के लिये तुम्हारा त्याग करना पड़े तो" मेरा हृदय अत्यन्त अधीर हो गया, यह सोचकर कि संभव

किसी समय ऐसी स्थिति का आलिंगन न करना पडे। आपकी ओर से कुछ नहीं है, नाथ! यह दासी का दौर्हद दोष है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (पुनः हृदय से लगाकर) प्रियतमे ! छोडें इस वार्ता को। किशोरीजी के चारु-चरित्रों का स्मरण कर हम लोगों को अब शयन-कक्ष की शरण लेनी चाहिये। ठीक है न?

श्री सिद्धिजी : सोने का समय भी हो गया है नाथ ! चलें, पलंग पर लेट जाँय, मैं श्री चरणों को पलोट दूँ आज विलम्ब से बैठे हुये पाँव दुखने लगे होंगे। अहा ! मैं कितनी अपराधिनी हूँ, पहले से ही प्रार्थना कर प्राण-पति को शयनासन में नहीं ले गई। राम, राम! सुख पहुँचाना तो दूर रहा, उलटे अनाप-सनाप सोच कर स्वामी को समझाने में कष्ट दिया दासी ने। क्षमा हो नाथ !

श्री लक्ष्मीनिधिजी : उँह ! इसमें अपराध क्या ?

[प्यारी को गले लगाकर, प्यार करते हुये शयन-कुंज की ओर प्रस्थान करते हैं।]

पटाक्षेप

....

एकोविंशः दृश्यः २१

[अम्बा श्री सुनैनाजी अपने अंक में अपनी लाडिली लली को लिये हुये अपने भवन में विराजी हैं, सखियों और दासियों से हरि-चर्चा करके सुखी हो रही हैं। श्री किशोरी जी भी कथा सुनकर बडीं प्रसन्न हो रही हैं और जहाँ-तहाँ समझने के लिये कथा-प्रसंग पर प्रश्न भी कर बैठती हैं।]

दासी : महारानीजू का मंगल हो। दासी का प्रणाम स्वीकार करें।

श्री सुनैनाजी : सानन्द रहो दासी। कहो क्या समाचार लेकर आई हो?

दासी : महारानीजू ! आपकी प्राण-प्रियतमा पतोहू, नित्य की तरह आपका सायंकालिक-कैंकर्य और अभिवादन करने के लिये सखियों समेत आ रही हैं।

श्री सुनैनाजी : दासी ! तुम्हारे द्वारा दिया हुआ शुभ-संदेश, हमारे हर्ष का विषय है। समय समझकर मेरे लालची-लोचन कब से द्वार की ओर दौड़ लगा रहे हैं कि पुत्र-वधू के विधु-मुख को देखकर अमृत-रस का पान करें। जाओ, सादर ले आओ मेरी स्नुषा को।

[मंदस्मिता निम्न-नयना संकोच की मुद्रा में मन्द-मन्द पद-विन्यास करती हुई, तथा मधुर-मधुर नूपुरों की ध्वनि से भवन को झंकरित करती हुई, श्रीसिद्धि जी का प्रवेश।]

श्री किशोरीजीः (श्री सिद्धिजी को देखकर) मैया ! देखिये न। वह भाभी जी आ गईं....

[गोद से उतर कर दौड़ती हुई श्री सिद्धिजी से आतुरता के साथ लिपट जाती हैं।]

श्री सिद्धिजी : (श्री किशोरीजू को हृदय से लगाकर प्यार करती हुई...) क्यों किशोरीजू ? मुझे दर्शनाह्लाद प्रदान करने के लिये, आप यहाँ पहले से ही पधारी हैं।

श्री किशोरीजी : अतिशयानन्द–वर्धिनी अपनी भाभी से भर प्रेम मिलने के लिये, किस ननँद का हृदय समुत्सुक न होता होगा भाभीजी?

श्री सिद्धिजी : (अंगुली पकड़कर अम्बा की ओर चलने का संकेत कर) लाड़िलीजू ! मेरी आँखें आपकी आँखों से मित्रता करके पृथक रहना पसन्द नहीं करतीं।

श्री सुनैनाजी : (श्री सिद्धिजी को अपने चरणों में शिर दिये देखकर स्नेह स्पर्श करती हुई) आ गई मेरी प्राण प्रिय पतोहू ! (स्नेह में भरकर अपने अंक में बैठाकर प्यार करने लगती हैं।) किशोरी ! तुम भी आओ मेरी गोद में।

[अंक में एक ओर प्रिय पतोहू और दूसरी ओर प्राण–प्रिय लाड़िली पुत्री को लिये श्री अम्बाजी वात्सल्य प्रेम की साकार मूर्ति–सी शोभा पाने लगीं।]

श्री सुदर्शनाजी : महारानीजी ! मूर्तित्रय की झाँकी की बलिहारी ! नयनवन्तों को नयनानन्द प्रदान करने वाली, नख–शिख–वसन विभूषणों से आभूषित मनोज्ञ, मनसिज के कर–कमलों से विनिर्मित और अनारूपेय कमनीय–कान्ति से युक्त तीन स्वर्ण–प्रतिमायें, किरण माली की किरणों से अधिकाधिक, दैदीप्यमान जैसी, यहाँ सिंहासन में विराजी हुई प्रतीत हो रही हैं।

श्री सुनैना जी : इस उपमान में उपमेय की जगह आपने मुझे भी सम्मिलित कर लिया क्या ? वाह ! सखी का वाक्–चातुर्य।

श्री सुदर्शनाजी : महारानीजी ! वाक्–चातुरी क्या ? कार्य के द्वारा कारण का अनुमान कर लेना चाहिये, ये नैयायिकों का न्याय, शास्त्रानुमोदित है किन्तु आप में तो प्रत्यक्ष प्रमाण के अभाव का अहर्निशि अभाव है अतएव अनुमान की आवश्यकता ही नहीं।

श्री सुनैनाजी : अच्छी रही मेरी देवरानी ! आज अपनी जेष्ठारानी को, सीता और सिद्धि के सहज सौन्दर्य का कारण सिद्ध करनें में सुखी हो रही हैं। अस्तु, अपनी देवर–वधू के हर्ष को वृद्धिगत करने के लिए इस विषय में कुछ न कहकर मौन का आश्रय ग्रहण करना श्रेयस्कर होगा।

श्री सिद्धिजी : (धीरे से) मैं अंक से नीचे उतर कर अपनी अम्बाजी का तथा अम्बाजी की क्रोड़ में विहरती हुई, श्री किशोरीजू का सामने से दिव्य दर्शन करके अधिक आनन्द की अनुभूति कर सकूँगी। भारी–भार के कारण अम्बाजी के श्री चरण दुखने लगे होंगे। चाहती तो यह हूँ कि पीड़ित– पदाम्बुजों को दबा दूँ।

[उक्त बातें कहकर श्री सिद्धिजी अंक से उतरने का प्रयास करती हैं, किन्तु श्री सुनैना जी प्रेम की अतिशयता से नहीं उतरने देतीं]

श्री सुनैनाजी : बेटी सिद्धा ! तुम मुझे ऐसी ही प्राणों से अधिक प्यारी हो, जैसी यह मेरी लाड़ली किशोरी। अहा....! युगल–चन्द्र की शीतल–सुधा पूर्ण–सुमधुर–किरणें, सुनेत्र–गवाक्षों से संप्रविष्ट होकर, हृदय–मन्दिर को अपने आलोक से आलोकित करती हुई, उसे अमृत–ह्रद बनाये दे रही हैं, जहाँ मेरा मन–मीन किलोल करता हुआ, अमरता के आनन्दानुभव में आसक्त सा हो रहा है। मुझे भार के ज्ञान का ज्ञापन अकिंचित है। तुम दोनों को अंक में लेकर मेरे तन–मन सभी सर्वथा स्वस्थ हैं, कोई कष्ट नहीं। अस्तु दोनों अंक में आसीन रहो।

श्री किशोरीजी : (श्री सिद्धिजी के नेत्रों से नेत्र मिलाकर) भाभीजी ! अम्मा का अत्यन्त लाड़-प्यार ही तो हमारा और आपका आहार है। अगर यह भोजन प्रतिदिन न प्राप्त हो तो सम्भव है, हम लोग सूखकर कृशकाय-यष्टिका बन जायँ।

श्री सिद्धिजी : (धीरे से) श्री किशोरीजी का कहना अक्षरशः सत्य है। अम्माजी के प्यार-पय के पान से ही हमारे जीवन की ज्योति जगमगाकर सेव्य की सेवा में सुचारुतया तत्पर रहेगी और प्यार के प्रभाव से ही सेव्य को सम्प्रहर्ष प्रदान करती हुई सेविका सिद्ध होगी किन्तु पाल-पोषकर प्रवर्धित की हुई बड़ी बालिका का भी कर्त्तव्य होता है कि वह अपनी शक्ति के अनुरूप गृह-कैंकर्य करके अपनी मैया को किंचित अवकाश दे। अस्तु, मैं कम से कम अम्बाजी के श्री ठाकुरजी के पार्षद तो स्वच्छ कर दूँ तथा एक पुष्प-माला भगवान के लिए पिरो दूँ । आप छोटी हैं, इसलिए बैठें, आपकी शोभा भी अम्माजी के अंक में अधिक निखरती है। मैं आपका दर्शन करती हुई, कैंकर्य करके ही अधिक आनन्द का अनुभव कर सकूँगी, अस्तु आपकी अनुमति की प्रबल प्रतीक्षा है।

[श्री किशोरीजी के श्री मुख की ओर मन्द-मुसकान के साथ चित्तापहारिणी चितवनि निक्षेप करती हुई, अपनी सासु के अंक से उतरकर प्रणाम करती हैं। पुनः भाव से भरी, प्रेम पूर्ण-कैंकर्य-महात्म्य की स्मृति से युक्त श्री सिद्धिजी पार्षदों को स्नान कराने की क्रिया करने में संलग्न होकर कुछ गुनगुनाने लगती हैं।]

मंद स्वर में पद : जय जय जग के ठाकुर ठकुराइनि।
जैं जै पार्षद परम पावने, करि करि सेवन हरिहिं लुभाइनि ।
सहित पार्षद हरि की पूजा, जो जन करत नित्य लव लाइनि ।
हर्ष परम पद प्रभु की सेवा, मिलै भक्ति अनुपम अनपाइनि ।

श्री किशोरीजी : (पद-गायन की समाप्ति पर, मैया की गोद से उतरकर) भाभीजी! हम भी आपके साथ-साथ अम्बा के भगवान की सेवा करेंगी। मैया कहेगी कि देखो किशोरी केवल खेलने और खाने में लगी रहती है। अपनी भाभी के काम में थोड़ा भी हाथ नहीं बटाती।

[श्री किशोरीजी पार्षदों को स्वच्छ करने की चेष्टा करने लगती हैं, ऐसा देखते ही श्री सिद्धिजी, लाड़िलीजू के कर-कमलों को पकड़कर स्नेह से साश्रु-लोचना होकर.....]

श्री सिद्धिजी : न, न किशोरीजी ! आप भगवान के पूजन-पात्रों में हाथ नहीं लगाइये, देखिये आपश्री के पाणि-पंकज यह कार्य करने की अर्हता नहीं रखते। मुझे बड़ी बेकली होगी, यदि आपने अपने हाथों से सेवा की। आप की इच्छा ही हो, कैंकर्य करने की, तो जब मैं मैया के ठाकुरजी के लिये सुमनों की माला पोहूँगी, तब आप डाली में रखे हुये कोमल-कोमल, सुन्दर-सुन्दर, बड़े-बड़े, अच्छे-अच्छे सौरभ-संयुक्त-पुष्पों को चुन-चुनकर मेरे हाथ में देती जायेंगी और मैं हार गूँथती जाऊँगी। हमारी लाड़िलीजू अपनी भाभी की इच्छा के अनुसार ही चलती हैं, अस्तु ऐसा ही करेंगी, है न ? किशोरीजू ! यद्यपि पुष्पों की सुकोमल-कलियों का स्पर्श भी आपके कर-कमलों के लिये कहीं क्लेश का कारण न बन जाय, इस भय से मैं सदा भयभीत रहा करती हूँ, फिर भी आपकी अधिक रुचि देखकर

बहुत शीघ्र पार्षदों को स्वच्छ किये देती हूँ पश्चात् अपनी ललीजू के साथ पुष्पहार के निर्माण का कार्य करूँगी।

श्री किशोरीजी : आप बड़ी हैं भाभीजी ! आपकी आज्ञा मानना भी तो आपकी ही सेवा है। अस्तु, मैं हठ तो नहीं करूँगी किन्तु लो मैं इसी प्रकार भाभी जी की पीठ पर छुपकी हुई, पार्षद–नहवाने के क्रिया–कलाप को तो अवश्य अवलोकन करूँगी।

श्री सिद्धिजी : (श्री किशोरीजी के स्पर्श–सुख को अनुभव करती हुई) अहा ...! अभी तो भगवत–कैंकर्य करने की केवल इच्छा की, कर नहीं पाई किन्तु कैंकर्य–फल में किशोरीजी का स्नेह से भरा हुआ अपनत्व और उनका विकसित–मुखाम्भोज तथा मेरी पीठ में चिपक कर उनके सुख मानने की क्रिया का दर्शन अभी मिल गया। धन्य है, निर्मल निष्काम हरि–सेवा के वैभव को।

श्री सुनैनाजी : ननँद और भाभी की खूब निबहती है, सुदर्शनाजी ! देखें न, सिद्धा के पीठ पर चिपकने से सीता को असीमित आनन्द आ रहा है और सीता को अपने पृष्ठ पर लेकर भगवत–कैंकर्य करने में पुत्र–वधू को सुख मिल रहा है। मैं तो इन दोनों की अन्योन्य परम प्रीति को देखकर प्रसन्नता से फूली नहीं समाती, देवरानी !

श्री सुदर्शनाजी : (धीरे से जिसमें कुछ दूर कैंकर्य करती हुई श्री सिद्धिजी श्रवण न कर सकें) महारानी जी ! प्राण–प्रिय पुत्र–वधू आर्य–संस्कृति और सामाजिक विशिष्टताओं की प्रतीक हैं, जिसमें वर्ण, आश्रम, अवस्था सम्बन्ध और ज्ञान–गरुअता की मर्यादायें एवं आदर्श व्यक्त करने का व्यक्तित्व समाहित है और प्रत्येक वर्ग की नारियों के लिये अपने स्तर एवं स्थिति के अनुसार तपोमई, त्यागमई बनने का विश्व विद्यालय भी प्रतिष्ठित है। अहा....! हमारी कुँअर–वल्लभा के अन्तःकरण को आवास बनाने वाले दिव्य–दिव्य गुणों का प्रतिबिम्ब दैनिक व्यवहार के दिव्य–दर्पण में पड़ने से सभी के अनुभव का विषय बन गया है। यही कारण है कि इन्होंने अपने पूर्ण परिवार के बालक, युवा, वृद्ध भेद से युक्त नर–नारियों को परम प्रसन्न बना रखा है, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण सभी प्राणियों का स्वयं हृदय है। अन्य प्रमाणों की अपेक्षा अनावश्यक है।

श्री सिद्धिजी : ठाकुरजी के पार्षदों की पूजा हो गई है, किशोरीजू ! चलें अब सुन्दर–सुमनों का मनोज्ञ–हार हम लोग बना लें ताकि अम्बाजी को इस कैंकर्य की चिन्ता न रहे। ठीक है न ?

श्री किशोरीजी : भाभीजी ! यह बात तो पहले से हीं निर्धारित हो चुकी है कि हम, आप मिलकर, भगवान के लिये माला बनायेंगी। अस्तु, शीघ्र ही भगवत्–कैंकर्य में हम लोग संलग्न हो जाँय।

श्री सिद्धिजी : किशोरीजू ! यह पुष्पों से भरी पुष्प–पात्री है। आप इसमें से अच्छे–अच्छे सुरभित–सुमनों को निकाल–निकालकर मुझे देती जाँय और मैं इनको पिरोती जाऊँ।

श्री किशोरीजी : अच्छा लीजिये, सुन्दर–सुन्दर सुगन्धित पुष्प देती जाती हूँ मैं अपनी भाभीजी को !

श्री सिद्धिजी : अच्छा, तो मैं भगवान के लिए, उसी प्रकार हृदय – हारी हार गूँथे दे रही हूँ, जिस प्रकार से नित्य अपनी ननँद को पहनाने के लिये चित्ताकर्षक पुष्पमाल का निर्माण किया करती हूँ।

श्री किशोरीजी : अहा ! आपने कैसी कला के साथ, पुष्पों का संग्रह एक सूत्र में पिरोकर किया है कि जिससे वह हार के रूप में भगवान के हृदय को अलंकृत करने वाला अलंकार बन गया। सुमन–माल के पहनने से मैया के ठाकुरजी का हृदय भी शीतल होकर परम प्रसन्नता का अनुभव करेगा, भाभीजी !

श्री सिद्धिजी : लाड़िलीजू ! अम्बा को प्रणाम कर मुझे अपने सदन में जाने के लिए समय बाध्य कर रहा है। आपके भैयाजी का महल में पधारने का समय हो गया है। उनके कैंकर्य में कहीं अवरोध न हो।

श्री किशोरीजी : भाभीजी ! हमें भी तो आपके साथ ही भैया के भवन में उनके दर्शन के लिये चलना है। कितनी देर हो गई, उनसे बिना मिले हुये। मेरा मन अकुलाकर अपने भैया के समीप, अब से प्रथम ही जा चुका है।

श्री सिद्धिजी : (श्री किशोरीजू को लेकर श्री सुनैनाजी के चरणों को प्रणाम करती हैं।) अम्बाजी ! आपकी पुत्र–वधू भोरी –भारी अबोध है, इसे कैंकर्य करने की प्रक्रिया का परिज्ञान नहीं है। अस्तु, बाल–स्वभाव से किये गये, अपराधों को क्षमाकर उचित उपदेश देती रहेंगी तभी वह आपके घर के अनुरूप यथार्थतः हो पायेगी।

श्री सुनैनाजी : (स्वगत) मेरी प्राण–प्रिय पतोहू को ईश्वर की अनुकम्पा से ऐहिक एवं पारलौकिक कृत्यों का पूर्ण ज्ञान, आचरण में अवतरित होकर संसार की सर्वानुकरणीय तथा सर्वानुकूल दृष्टिगोचर हो रहा है, यही उसका वैशिष्ट्य है तथापि उसमें और–और सुन्दरता लाने के लिये मैं समय समय पर अपने से ही मनोरंजक पुरातन –कथा–कहानियों को कह कहकर उसके मन का रंजन करती हुई, शिक्षिका का भी कार्य पूरा कर ही देती हूँ। (प्रकट) अवश्य, अवश्य ! मैं अपनी बहू को न सिखाऊँगी तो कौन सिखायेगा।

श्री सुदर्शनाजी : मेरी बडी पुत्र–वधू ! तुम्हारी विशिष्ट–दिनचर्या परमार्थाजन की जननी है, जिससे तुम्हारी अनुगामिनी कुल–वधुओं को परमार्थ–पथ में प्रकाश की प्राप्ति होती है और होती रहेगी। स्त्री को कैसे पति–परायणा होकर परम–पुरुषार्थ स्वरूप परम–परमार्थ–तत्व की प्राप्ति करनी चाहिये, कैसे गृहिणी को गृहकार्य संभालना चाहिये, कैसे अतिथि–अभ्यागत और ब्राह्मण–साधु–गुरू–गौ–देवता तथा दीन–दुखी की सेवा करनी चाहिये, यह सब ज्ञान तुम्हारे आह्निक–कृत्यों को देखकर तुम्हारी देवरानियाँ सहज ही में प्राप्त कर लेंगी, बहूरानी।

श्री सिद्धिजी : (सुदर्शनाजी के चरणों में सिर रखकर) मेरी छोटी माँ। मैं बहुत भयभीत हूँ, मुझसे कोई न कोई आपका अपराध अवश्य ही बन गया है, तभी तो मेरे मुख के सामने मेरी इतनी बडाई कर रही हैं। हाय! कहीं प्रशंसा सुनने की इच्छा–पिशाचिनी ने तो मेरा स्पर्श नहीं कर लिया। माँ, मुझमें कुछ नहीं है, यत्किन्चित दृष्टिगोचर होता हो, तो वह आपके आशिर्वाद का परिणाम ही प्रकट होकर, आपके नयन–पथ में आ रहा है। अम्बाजी ! मैं नीच से नीच टहल करने वाली आपकी गृह–किंकरी हूँ। अस्तु, अपनी कृपा–दृष्टि से इस दयनीय दासी को देखते हुये प्रेमात्र के द्वारा पालन–पोषण करत्ती रहें और अहंकार के भूत से मुझे बचाती रहें। कीर्ति–डाकिनी मेरा कलेजा न फाड़ खाय। आप अपने अनुकूल बनाने के लिए "ताड़ना" का आधार लें, तो भी मुझे कोई ग्लानि अथवा आपत्ति न होगी।

श्री सुदर्शनाजी : अरी मेरी लाड़िली बहू ! तुममें अपराध करने की योग्यता का सर्वथा अभाव है, अस्तु, अपराध संभव नहीं। तुमने अपने सद्गुणों से परिवार के सभी नर–नारियों के हृदय में अपना आवास बना लिया है। मैंने अपने हर्षोद्गार को संभाल न सकने के कारण ही कुछ अक्षरशः सत्य बातें कह डाली हैं, जिसमें तुम्हारे सम्मुख प्रशंसा करने की कामना का अंकुर न था। तुम हम लोगों को भगवान से, प्रसाद के रूप में मिली हो। निमिकुल–नार्यावतंसा–नारी के मुख से तुम्हारी जैसी विनम्रता और शील–सम्पन्न निरभिमानिता की द्योतक मधुराति मधुर परिमार्जित–वाणी की विलक्षण विसर्गता तद्नुरूप और स्वाभाविक है।

श्री सुनैनाजी : वत्से ! जाओ, कुँअर के आने का समय अब हो गया है। दासी–दासों की परिचर्या में रहते हुये भी, मेरे बेटे के कैंकर्य में अधिक रुचि लेना तुम्हारे स्वरूपानुरूप है।

श्री सिद्धिजी : (बड़ी नम्रता के भाव से भरकर दोनों सासुओं को प्रणाम करके आशिर्वचन ग्रहण करती हैं।) माँ ! आज्ञा हो तो श्री किशोरीजू के सहित अपने भवन को जाकर, आपकी निर्दिष्ट सेवा का निर्वाह करूँ ?

श्री सुनैनाजी : अच्छा ... ! किशोरी भी भाभी के साथ ही जाना चाहती है, ठीक है। दोनों ननँद–भाभी जाओ।

[दोनों को हृदय से लगाकर प्यार करती हुई, दोनों का मस्तक अवघ्राण कर विदा देती हैं। भाभी सहित श्री किशोरीजी का प्रस्थान।]

पटाक्षेप

....

द्वाविंशः दृश्यः २२

[सिद्धि–सदन में श्री सिद्धिजी के अंक पर तिरछी टिकी हुई, श्री किशोरीजी भाभी के प्यार को पाकर परम प्रसन्न हो रही हैं और उनकी अनुजायें उन्हीं को घेरे हुए सुन्दर आसन पर आसीन हैं।]

श्री किशोरीजी : भाभीजी ! हमारी बहनें, माण्डवीजी, उर्मिलाजी, श्रुतिकीर्तिजी, चन्द्रकलाजी, चारुशीलाजी को लेकर जितनी भी हैं, सभी के मन में एक मनोरंजक–मधुर–मनोरथ उत्पन्न हो गया है वह यह है कि आपके साथ हम चौपड़ खेलें। कहिये, आपकी आन्तरिक–अभिलाषा क्या है ?

पद : भाभी भरी हृदय एक आस ।
सिगरी अनुजा कीन्ह समर्थन, तनिक न मनहिं उदास ।
चौसर खेल करहिं तव संगहि, हृदय इहै अभिलाष ।।
हर्षण सिया मनोरथ पुरवहु, होवै हास विलास ।

श्री सिद्धिजी : जिस कैंकर्य में किशोरीजू का मनोरंजन हो, वही सेवा करना आपकी भाभी का परम कर्त्तव्य है। आपका यह हार्दानुग्रह है कि मुझे अपनी क्रीड़ा–विनोद की प्रिय–पात्री का स्थान देकर केलि–रस का अनुभव करना और कराना चाहती हैं। जय हो, जय हो हमारी लाड़िलीजू की... !

श्री किशोरीजी : (सब बहनों के साथ एक स्वर में) जय हो, सदा जय हो, हमारी भाभीजी की ! चन्द्रकले ! अपनी भाभीजी का नैसर्गिक औदार्य कितना अनूठा, आकर्षक और अनुपम है। अहा-- ! अयोनिजा की अभिलाषा की पूर्णता को ही अपना आनन्द समझती हैं ये, अलग से इन्हें स्वप्न में भी कोई स्वार्थ-परमार्थ का सुख न चाहिये। अहो ! अपनी ननँद के लिये कितना विलक्षण त्याग है, हमारी भ्रातृ-वधू का !

चन्द्रकलाजी : सर्वेश्वरीजू ! भाभीजी के हृदय-भवन में आप पूर्णतया अपना अधिकार स्थापित कर अहर्निशि निवास करती हैं और वहाँ से अन्यत्र जाने की कल्पना ही आपको अरुचिकर लगती है। दोनों घुल-मिलकर एक दूसरे को आनन्द का आदान-प्रदान करने के लिये, विविध-केलियों का आश्रय लेती रहती हैं। अस्तु, आप दोनों की रसमयी-लीलायें अतर्क और अनिर्वचनीय होती हुई भी, अनुभवशीलों के लिये महान-मधुर हैं।

श्री सिद्धिजी : मैं तो यह जानती हूँ, कि हमारी सभी ननँदें रस ही रस से भरी छलकती हुई कनक-कलशी के समान हैं। मुझे तो दर्शन एवं स्पर्श मात्र से अमृताम्भोधि के अवगाहन का आस्वाद आने लगता है। समय पर कोई रसाधिकारी-रसिकाधिराज पूर्णतया स्वतन्त्र होकर अबाध-गति से इनके रस का जब पान करेगा, तब उस अलौकिक-रस की अनुभूति में जो आनन्द आयेगा, उसका अनुभव उस बड़भागी रसिक के अतिरिक्त अन्य किसी के अनुभव का विषय न होगा।

चन्द्रकलाजी : हमारी भाभी श्री सिद्धि कुँअरि जी की सूक्ति-सुधा का समास्वाद श्रवण प्रिय श्रवणों को सुरुचिकर और सुमधुर तो है ही किन्तु साथ ही उसमें अपनी ननँदों के साथ हास्य-रस की अभिव्यंजना की अभिव्यक्ति भी उपलक्षित हो रही है। (मन्द-मुसकान के साथ विनोद में) रसानुभूति तो रस-लम्पटा-रसिका-नारी को ही संभव है, उसी को रस-सम्बन्धी चर्चा करने का भी पूर्ण अधिकार है क्योंकि बिना चीखे किसी भोग्य-पदार्थ के खट्टे-मीठे का परिज्ञान असंभव ही रहता है। अस्तु, रसानभिज्ञा हम लोग अनधिकार चेष्टा क्यों करें। हाँ भाभीजी और सुनायें तो उनके अनुकूल होगा।

श्री सिद्धिजी : (मुसुकराहट के साथ चन्द्रकलाजी को प्यार से हृदयालिंगन कर...।) श्री चन्द्रकलाजी ! मैंने तो सत्य वार्ता कही है। आपको यदि विनोद का आभास होता हो, तो वह भी सही। भाभी और ननँद की यथोचित-हास्य रस की वार्तायें ही दोनों के बीच प्रेम का सृजन करती हुई, एक मन और एक आत्म बनाने में सहायिका सिद्ध होती हैं।

श्री किशोरीजी : भाभीजी ! छोड़िये यहीं इस प्रसंग को। मेरे किये गये प्रस्तुत-प्रस्ताव की स्वीकृति के अनुसार, आपको चौसर-केलि के द्वारा हम लोगों को आनन्द प्रदान करना चाहिये।

श्री सिद्धिजी : हाँ, हाँ किशोरीजू। अभी, अभी आप क्रीड़ा स्थली पर पधारें, खेल की बिलकुल तैयारी है। मेरे संकेत से दासियों ने चौसर का जाल बिछाकर उसमें यथास्थान-यथोचित गोटियाँ रख दी हैं, पास ही पाँसे भी पड़े हैं। आपके चलने की देरी है। देखिये, दासियाँ हाथ जोड़े हुये आपकी प्रतीक्षा में खड़ी हैं। मेरा और चन्द्रकलाजी का विनोद भी तो आप ही के विनोद के लिये था।

श्री किशोरीजी : (भाभी का हाथ पकड़कर) अच्छा, हम लोग चलकर खेल प्रारम्भ करें।

(क्रीडा-स्थल पर पहुँचकर एक ओर किशोरीजू प्रमुख होकर खेलने बैठ जाती हैं तथा दूसरी ओर सिद्धि कुँअरिजी। दोनों की झाँकी बडी ही मनोरम और सुन्दर लग रही है। मानो रस-सिन्धु से समुत्पन्न दो साक्षात् लक्ष्मी अपनी कमनीय कान्ति से केलि-कुंज को प्रकाशित करती हुई, एक-दूसरे पर बलिहारी हो रही हैं।)

श्री सिद्धिजी : प्रथम श्री किशोरीजी के कर-कमलों में क्री.डा करते हुये पाँसे फेंके जाकर खेल का श्री गणेश करना चाहिये। चन्द्रकलाजी !

श्री किशोरीजी : (श्री सिद्धिजी की ओर देखकर मुसुकराती हुई, चपलता के साथ) अच्छा भाभीजी ! ये पाँसे मैंने फेंके, देखिये.... देखिये ए पव बारह आये (मुख पर प्रसन्नता के भाव) अच्छा अब आपकी बारी है, आप पाँसा फेंकें और चन्द्रकलाजी मेरी ओर से हमारी हरी-पीरी-गोटियों को उत्तम-चाल के द्वारा अपुनरावर्ती केन्द्र की ओर संचालित करें।

श्री सिद्धिजी : देखिये, देखिये किशोरीजू ! ये पाँसे फेंके और ये सोरही पड़ी। मै स्वयं अपनी लाल-काली-गोटियों को युग बाँधकर चलाऊँगी, ताकि आप श्री के द्वारा मेरी गोटियाँ मारी न जा सकें।

श्री किशोरीजी : (मन्द मुसुकान के साथ विनोद में) आप केलि-कला में बडी कुशल हैं। आपका युग बंधा ही रहता है। (पाँसे फेंकती हैं।) ये अठारह पडे।

श्री सिद्धिजी : (पाँसा फेंककर) ये पव बारह आये। चन्द्रकलाजी ! (मुसुकराकर) लीजिये, पव से यह गोटी मेरी पककर केन्द्र में आ गई और शेष से आपकी इन दो गोटियों को मारा, जो परिपक्व अवस्था को प्राप्त होने वाली थीं। (सिद्धिजी की सखियाँ ताली देकर हँसने लगीं...)

चन्द्रकलाजी : श्री स्वामिनीजू ! भाभीजी ने हमारी गोटी मारने के लिये युग फोर दिया है। अबकी ऐसा दाँव पड़ना चाहिए कि इनकी गोटी भी हमारे द्वारा मारी जाय।

श्री किशोरीजी : लीजिये, चन्द्रकलाजी ! ये पाँसे फेंके....

श्री सिद्धिजी : (हँसकर) तीन कानी, तीन कानी, मारिये, मारिये चन्द्रकलाजी !

[कहकर पुनः पाँसे फेंककर श्री सिद्धिजी गोटी संचालित करती हैं। श्री किशोरीजी पुनः अपनी बारी पर पाँसे फेंकती हैं।]

श्री किशोरीजी : भाभी ! ये मेरे मन चाहे पाँसे पड़े, देख लीजिये। (हँस कर जोर से गोटी को पीटकर) आपकी इन दोनों गोटियों को मैंने मारा, शेष घर चलने के लिये मेरी मरी गोटी उठकर तैयार हो गई। (चन्द्रकलाजी का मुख प्रसन्नता से खिल उठा।)

श्री सिद्धिजी : लीजिये ये पाँसे फेंके, उँह सात ही पडे।

चन्द्रकलाजी : हो गया, हो गया भाभी जी अब हमारी गोटी आपके मार में है ही नहीं, वृथा ही आपका प्रयास है।

[पाँसे फेंककर दांव पड़ने पर पकी गोटी को कच्ची करके...]

श्री सिद्धिजी : लीजिये, लीजिये चन्द्रकलाजी ! आपकी पकने वाली यह दो गोटियाँ पुनः मारी गईं, कच्ची-गोटियाँ तो कितनी बार मारी गई हैं।

[श्री किशोरीजी पांसे डालकर आये दाँव से सिद्धिजी की गोटी को मारने का इशारा चन्द्रकलाजी से करके...]

श्री किशोरीजी : मारिये, मारिये चन्द्रकलाजी !

चन्द्रकलाजी : (हँसती हुई) लीजिये, लीजिये भाभीजी ! हमारी गोटी को मारने के लिये आपने पकी गोटी को कच्ची किया था। हमने अपनी चालू गोटी से ही बहुत दूर चली हुई आपकी गोटी को मारा है।

चित्राजी : पाँसा खेलते-खेलते बहुत विलम्ब हो गया किन्तु भाभी और ननँद दोनों बराबरी ही में चल रही हैं। दोनों की चौसर-क्रीड़ा देखते ही बनती है, आनन्द भी खूब आया, परन्तु हार-जीत न किसी की हुई है न आज के खेल में सम्भावना ही है, अस्तु, प्रार्थना, है कि केलि को विराम देकर सामयिक-कृत्यों का अनुष्ठान किया जाय।

श्री सिद्धिजी : कहिये, किशोरीजू ! चित्रा की प्रार्थना की स्वीकृति है न ?

श्री किशोरीजी : हाँ, भाभीजी ! विलम्ब भी बहुत हो गया है। हम लोग क्रीड़ा से अब अवश्य उपरत हो जाँय। दासी, चौसर-साज समेट दो।

श्री सिद्धिजी : (श्री किशोरी जी तथा चन्द्रकला जी को हृदय से लगाकर प्यार करती हुई....) चन्द्रकलाजू की चौसर-कला, कलानिधि की कला में भी कमनीयता लाने वाली है, सीमा हो गई चातुरी की, मैं तो दंग रह गई, किशोरीजू ! और आपको तो कहा ही क्या जाय, आपकी चितवनि-कला से जड़-पाँसे और गोटियाँ भी मुग्ध होकर रुख में रुख मिलाकर चलती थीं, मेरा किया-कराया प्रयत्न असफल हो जाता था।

चन्द्रकलाजी : हमारी भाभी जी तो केलि-कला की पूर्ण पंडिता ही हैं, जिनके विद्यालय में श्री किशोरीजू को लेकर हम सब बहनें स्नातिका बनने के लिए अध्ययन करने आती हैं। प्रत्यक्ष में हम और श्री किशोरीजू मिलकर क्रीड़न-क्रिया सम्पादन करती थीं और भाभीजी अकेले, तो भी हमारी गोटियों के पैर श्रीधरकुमारी की गोटियों से एक कदम भी आगे न बढे। (हँसकर) क्रिया-कलाप के साथ भाभीजी का युग-बाँधकर चलना अप्रत्याशित अत्यन्त रमणीय प्रतीत होता है, अच्छा क्या लगता है ? रस की सृष्टि करके रसाभिषिक्त कर देता है।

श्री सिद्धिजी : (मंद हसनि के साथ) आपका विनोदी-स्वभाव रोते को भी हँसाने वाला तथा मृतप्राय को अमृत बना देने वाला है, चन्द्रकलाजी ! आज आपकी रस-मत्तता श्री किशोरीजी से अविदित नहीं है।

श्री किशोरीजी : भाभीजी ! आपको अपनी जीत प्यारी है न ?

श्री सिद्धिजी : (प्यार करती हुई) किशोरीजी की जीत ही वास्तव में अपनी जीत है, अस्तु वही मुझे अभीष्ट और प्यारी है। इसके अतिरिक्त अहं का आश्रयण करके मृत्यूत्पादिका स्वजीत को, अपनी विजय समझना रूपान्तर से हार ही मानती हूँ, जो सर्व-प्रकारेण अनुपादेय और अप्रिय है। यद्यपि अलग की विजय-विभूति में भी आप ही के जीत का अस्तित्व बोधतया सर्वभावेन समझती हूँ, तो भी अपनी हृदयेश्वरी के सुन्दर-विग्रह के विजय के लिए नित्य मंगलानुशासन किया करती हूँ।

श्री किशोरीजी : भाभीजी ! खेल में यदि जीत की बाजी आप ही की आती, तो क्या करतीं ? मुझे तो हारना ही पड़ता।

श्री सिद्धिजी : यदि आप मेरी जीत में सुखी होती हैं, तो आपके आनन्दानुभूति के लिए मुझे अपनी जीत स्वीकार है और यदि आप मेरी हार से हर्षापन्न होती हैं, तो मुझे अपनी हार, हर तरह से हृदय-हर्षिणी होगी। हाँ, अपनी स्वतंत्र-इच्छा से तो मुझे आप श्री

की विश्व-विजयता ही परमानन्द-प्रदायिनी है। यदि आज की क्रीड़ा में, मैं समझ जाती, कि मेरी जीत हो रही है, तो असहिष्णु मेरा मन हाथों से गोटियों को गल्ती-चाल-चलाकर भाभी की पराजय एवं ननँद की विजय-विभूति को प्रेक्ष्य, प्रसन्नता से नृत्य करने लगता।

श्री किशोरीजी : (श्री सिद्धिजी के गले में अपने दोनों बाहुओं का हार पहनाती हुई) अहा....! इतना सम्मान, इतना समर्पण और इतना प्यार मुझे छोड़कर किस ननँद को अपनी भाभी से सुलभ होगा। धन्य है भाभी जी के लोकोत्तर भाव को तथा प्रेमातिरेक को। भाभीजी ! मैं भी अपनी न रही, मैं और मेरे पर आपका पूर्णतः अधिकार हो गया है। आपका सुख मेरा सुख और आपकी इच्छा मेरी इच्छा। बस आनन्द ही आनन्द....

[देवनारियाँ, पुष्प की वृष्टि करती हुई आकाश से जय हो, जय हो, युगल-मूर्तियों की सदा जय हो।]

देवनारियाँ : अहा ! आप, भाभी और ननँद दोनों इस प्रकार अलौकिक प्रीति में परस्पर सराबोर होकर अपने सम्बन्धियों को परमानन्द वितरण करती रहें । जय हो, जय हो...

श्री सिद्धिजी : पूज्य देवियों को मेरा शत-शत प्रणाम है। आपके आशीर्वाद को अंचल पसार ग्रहण कर रही हूँ। प्रार्थना है कि हमारी श्री किशोरीजी का सर्वावस्था में, सर्व समय मंगल हो, मंगल हो।

[श्री सिद्धिजी की प्रार्थना को पुष्प-वृष्टि द्वारा स्वीकृत कर देवनारियाँ आकाश में ही अन्तर्धान हो जाती हैं।]

चन्द्रकलाजी : श्री किशोरीजू। चलकर आज की मधुमई क्रीड़ा का समाचार अम्माजी को दें, सुनकर उन्हें हर्षातिरेक की अनुभूति होगी। आपके पहुँचने की प्रतीक्षा में भी होंगी वे।

श्री किशोरीजी : अच्छा, भाभी जी ! आज्ञा हो तो हम सब बहनें मैयाजी के महल के लिए प्रस्थान करें।

श्री सिद्धिजी : श्री किशोरी जी की इच्छा में उलट-पलट करने की किसकी सामर्थ्य है। लाड़िलीजू ! अवश्य ही पधारें आप।

[प्रेम से हिल-मिलकर, अत्यन्त स्नेहपूर्वक श्री सिद्धिजी, श्री किशोरीजी को विदा देती हैं।]

पटाक्षेप

इति द्वितीयः अंकः

....

अथ तृतीयः अंकः

त्रयोविंशः दृश्यः २३

[सिद्धि-सदन में बैठी हुई, श्री सिद्धिजी, विदेह राज-नन्दिनीजू के गुण-गणों का अनुभव कर-करके प्रेम-मूर्छा को प्राप्त हो गई हैं। सखियाँ-दासियाँ उपचार के द्वारा उन्हें सचेष्ट करके श्री किशोरीजी की चर्चा ही में कालक्षेप कर रही हैं।]

(चित्रा का पद गान) : सियाजू सकल गुणन की खान ।

क्षमा कृपा करुणा की मूरति, पर-दुख सहति न कान ।

सहि न सकति काहुहि कर जोरे, सर्वस देन की बान ।
आत्म-काय सम्पत्ति की सागर, रती रमा लघु जान ।
हर्षण-सिद्धि की प्राण-पियारी, प्रीति न जाय बखान ।

चित्राजी : हे कुँअर-बल्लभे ! श्री राजकिशोरीजी में सर्वाङ्गीण शरीर-सम्पत्ति के साथ, विशिष्ट-विशिष्ट गुणों के वैभव का बाहुल्य विद्यमान होते हुये भी, उनके अमानित्व, सौशील्य, सौलभ्य और वात्सल्यादि-सुन्दर स्वभाव में किंचित परिवर्तन उसी प्रकार असंभव और अगोचर है, जैसे समुद्र में जल की न्यूनता एवं अग्नि में ऊष्मा के अभाव का।

श्री सिद्धिजी : अक्षुण्ण एक रस रहने की सहज स्वभाववाली, अप्राकृत-वस्तु में, विकृति का दोष किसी काल-देश और अवस्था में नहीं उत्पन्न होता, चाहे वह समूह-संग-दोषों से समावृत क्यों न हो। परिणाम शीला-प्रकृति में ही विकृति होती है। चित्रे ! जैसे तुमने भगवान भास्कर में अंधकार के कणांश का दर्शन कभी न किया होगा, उसी प्रकार श्री किशोरीजी के पूर्तिमत् रूप, शील और औदार्यादि गुणों के कोष में किसी विशेष कारग से भी परिवर्तन दिखाई न देना तुम्हारी सुन्दर और संशुद्ध आँखों के अनुरूप ही है।

चित्राजी : (साश्रु) अहो ! श्री किशोरीजी का कितना कोमल स्वभाव है, स्वामिनीजू ! एक दिन आपके कक्ष में शीघ्रता से आते समय, मणिमय-आँगन में फिसलकर मैं गिर गई, देखकर कुछ सहेलियाँ मुसुकराने लगीं किन्तु वहीं कुछ दूर में खड़ी हुई श्री किशोरीजी दौड़ती हुई आईं और मेरे उठने के पहले मेरा स-स्नेह-स्पर्श कर सजल-नेत्रों से पूछा कि चोट तो नहीं लगी और अव्यवस्थित मेरे वस्त्रों को सुधार कर मुझे बैठा दिया। इतना ही नहीं अपने कर-कमलों से विंजन करने लगीं। उनकी प्रत्येक चेष्टाओं पर मैं प्रार्थना करती कि आप रहने दीजिये, मैं स्वस्थ हूँ किन्तु दूसरे के नाम-मात्र दुख से असहिष्णु किशोरीजी ने अधिक कष्ट का अनुभव करने के कारण मेरी एक न सुनीं। धन्य है, उनकी पर-दुख असहिष्णुता को।

श्री सिद्धिजी : करुणा-वरुणालया श्री किशोरीजी कृपा की मूर्ति हैं। उन दया-सागरीजू के सुन्दर स्वभाव की समुज्वलता और स्वाभाविक सुकुमारता वाणी का विषय नहीं, अपितु अनुभवगम्य है। एक दिन हमारी सासुजी श्री लाड़िलीजू के आग्रह से कुछ पौराणिकी-गाथा, उन्हीं को सुना रही थीं, प्रसंग में यमपुरी का वर्णन चल पड़ा। हमारी हृदय-हर्षिणी ननँद उसे श्रवण करने में सक्षम न हो सकीं, वे यम-यातना से पीड़ित जीवों की दयनीय-दुर्दशा को सुनकर मूर्छित हो गईं। महल में चीत्कार मच गया, उपचार करने पर एक मुहूर्त में वे मूर्छा-विगत हो सकीं किन्तु आवेश वश उनका शरीर काँप रहा था। छाती में धड़कन थी, करुण-क्रन्दन कर रही थीं कि हाय ! हमारे जीवों को कितना कष्ट है, जन्म-मरण का दुसह-दुख सहकर भी उन्हें अवकाश नहीं। हाय...! उन्हें पुनः यम-यातना का भाजन बनना पड़ता है, उस दिन जनक लड़ैतीजू बिना अन्न-जल के ही रह गईं। श्री याज्ञवल्क्य गुरुदेव जी सहित हमारे श्वसुर देव पधारकर, उन्हें बहुत समझाये। गुरुदेव ने कहा "कि बेटी हमारा आशीर्वाद है, जो जीव तुम्हारा नाम स्मरण करेंगे तथा जो तुम्हारे चरित्र को श्रवण करेंगे वे इस लोक में सदा सुखी रहकर अन्त में सच्चिदानन्दमय परम-पद को प्राप्त करेंगे।" तब कहीं श्री किशोरीजी प्रकृतिस्थ हुईं। इस प्रसंग की स्मृति

जब–तब ललीजू को अब भी कष्ट का अनुभव कराती हुई, उनके हृदय के हर्ष को छीन लेती है, अस्तु, उनके समान वही एक कृपा–विग्रहा हैं। चित्रे !

चित्राजी : स्वामिनीजू ! एक दिन मैंने उनकी दया पूर्ण उदारता का दृश्य अपने नेत्रों से स्वयं दर्शन किया जिसमें स्वार्थ की संकीर्णता नहीं अपितु परमार्थ की पवित्रता पूर्ण रूपेण प्रतीति होती है। वार्ता ऐसी है...कि एक अधेड़–अवस्था की महिला "फल लो, फल लो" कहती हुई राजद्वार के समीपवर्ती राज–मार्ग से पयान कर रही थी। श्री किशोरीजी ने अपनी अट्टालिका से उसे देखकर अपनी दासी द्वारा यह विचार कर बुलवाया कि इस गरीबिनी के गृह में किंचित–धन होगा इसीलिये यह अर्थार्थी–अबला गली–गली परिभ्रमण करती हुई, फल विक्रय कर रही है। फल वाली के आने पर सियाजू ने चाची कहकर उसका सनम्र सम्मान किया तथा दया–परवश होकर दयालुनी ने उसके फलवाले पात्र को रत्नों से भर दिया और कहा, "ले जा चाची।" यद्यपि उसने बहुत कहा कि "मुझे यह न चाहिये, मैं गरीबिनी नहीं हूँ, आपकी कृपा से मेरे भवन के वैभव को देखकर इन्द्र के मुख में पानी भर आता है, किशोरीजू ! मैं तो ये फल उन बालकों को बिना दाम के देने के लिये एक वक्त निकलती हूँ जो छोटे–छोटे मुझे मार्ग में मिल जाते हैं, उन नन्हें–मुन्ने बच्चों को प्रसन्नकर बाल रूप भगवान की उपासना किया करती हूँ मैं।" तद्यपि सुनकर लाड़िलीजू ने कहा कि "माँ ! यदि तू बालकों में बाल भगवान का भजन करती है, तो मुझ बालिका में भी भगवती की उपासना तुम्हें करनी चाहिये। मेरी प्रसन्नता के लिये तू इन रत्नों को ले जा, बिना कुछ कहे सुने। मेरी प्रसन्नता भगवती की ही प्रसन्नता होगी।" तब कहीं फल वाली, श्री किशोरीजू के दर्शन, स्पर्श और वार्तालाप के आनन्द में विभोर होकर, उन्हीं के आग्रह से उन्हीं के सुख–संवर्धनार्थ रत्नों की टोकरी लिये निरपेक्ष अपने आवास गई।

श्री सिद्धिजी : हमारी लाडिली श्री किशोरीजू का कैसा सुन्दर शील स्वभाव है। अहा... ! ललीजी को प्राप्तकर शीलादि–सुन्दर–गुण भी समग्र और लोकोत्तर बन गये। सहेली ! किसी में किसी प्रकार के लघु–दोष का भी दर्शन न करना श्री ललीजू के अतिरिक्त अन्य किसी के बस की बात नहीं है। वे पुरानी कथा–कहानियों में जब किसी के अपराध पर दण्ड का विधान श्रवण करती हैं, तो प्रायः कहा करती हैं, कि साधु–स्वभाव वाले पुरुष को अपराधी की भी रक्षा करनी चाहिये, अपने अपराधों के कारण ही लोग, दूसरे के दोषों को देखने के अभ्यासी और सहज समर्थ होते हैं। चित्रे ! सत्य कहती हूँ कि हमारी ननँद को दोषी जनों में दुर्गुण न दिखाई देकर गुण ही गुण दिखाई देते हैं, तभी तो श्री विदेहराज–नन्दिनी जू अल्प वय की होती हुई भी विश्व–विश्रुता एवं विश्व–वन्दिता बन गई हैं।

चित्राजी : शील–सागरा श्री सियाजू क्षमा शीलता में तो साक्षात् क्षमा (पृथ्वी) ही हैं। खेल में जब उनकी सहेलियाँ स्वयं गड़बड़ मचाकर उलटे उन्हीं को खीझकर कुछ कह देती हैं तो श्री राजकिशोरीजी मन्द–मन्द मुसुकराती हुई, उनकी इच्छा में अपनी इच्छा को विलीन कर उन्हें सुखी करने का संयोग करती रहती हैं। केलि में भी उनके श्री मुख में अमर्ष और अक्षमता की रेखाओं का दर्शन किसी ने, किसी समय नहीं किया। यह मैं स्वयं देखी और सबके मुख से सुनी हूँ। कुँअर–वल्लभे ! किशोरीजू के समान अकारण–कृपा करने वाली कृपालुनी भुवन के भीतर कौन है ?

श्री सिद्धिजी : हमारी श्री राजकिशोरीजू जब अपनी सखी–सहेलियों के साथ खेलती थीं, तब कभी–कभी किसी कारण वश खेल में ही कह देती थीं कि हम जब बड़ी होंगी

और हमारी चलेगी तब सम्पूर्ण जगज्जीवों को सुख–सिन्धु में सराबोर करने के लिए निःस्वार्थ प्रयत्न अवश्य करेंगी। अहा... ! कृपालुनी किशोरीजू स्वयं कृपार्णवा हैं, समय आने पर उनके कृपा–क्षीर से 'संसार में सबका संभरण एवं संपोषण संभाव्य है।

चित्राजी : हे श्रीधर–कुमारीजू ! श्री किशोरीजू में कृपा–गुण, पतिपारतन्त्र्य–गुण और अनन्यार्हत्व–गुण के लक्षण स्पष्टतया अभी से उपलक्षित हो रहे हैं। उपयुक्त उत्तम वैवाहिक–क्रिया के अनन्तर इन गुणों का प्रचुर विकास उसी प्रकार होगा जैसे प्रातिभ ज्ञान से प्रारम्भ होकर पूर्ण परमात्मा का ज्ञान तथा उषा–काल से ही सूर्योदय के लाक्षणिक–प्रकाश से लेकर मध्य–कालीन अंशुमाली के प्रकाश–पुंज का ज्ञान !

श्री सिद्धिजी : चित्रे ! मेरे श्रवणों को सुधा के समान सुमधुर श्री किशोरीजू की कलापूर्ण–कमनीय–कीर्ति का कथन करके मुझे अमृताम्भोधि में निमग्न किये दे रही हो अहा ! सच्ची सहचरी का कर्त्तव्य करने में तुम कितनी कुशल हो। श्री भूमिजाजू असंख्येय–श्रेष्ठ–सद्गुणों की साकार–मूर्ति हैं, जिनमें एक भी निकृष्ट गुण का आंशिक दर्शन प्रयत्नशील छिद्रान्वेषियों को अति दुर्लभ है। मैं तो अपनी किशोरीजी की कहलाकर कृतकृत्य हो गई, उनके सम्बन्ध से परमानन्द मेरे आगे पीछे, दायें–बायें और ऊपर नीचे सब ओर से अपने में ही मुझे आवृत किये रहता है।

चित्राजी : हे स्वामिनीजू ! एक दिन किशोरीजू को एकान्त में पाकर प्यार से मैंने पूछा कि हे राजनन्दिनीजू ! इस चित्रा के चरित्र से आपके चारु–चित्त में कोई संघर्ष तो नहीं होता ? श्री लाड़िलीजू ने तुरन्त उत्तर दिया, "अरे ! यह क्या कह रही हैं, चित्राजी ! मुझे तो आप के संयोग से स्वाभाविक अतिशयानन्द का अनुभव होता है। मेरी भाभी की सहेली हैं, आप ! अस्तु जो प्राणी, पदार्थ एवं देश–काल हमारी भाभी के लिए सुख का संविधान करने वाले हैं, वह हमें प्राणों से अधिक प्रिय हैं। हमारे इन वचनों में आप भूल कर भी अविश्वास न करेंगी।"

श्री सिद्धिजी : अरी चित्रे ! तुम पर श्री किशोरीजी की प्रीति एवं कृपा के होने में आश्चर्य ही क्या ? लाड़िलीजू तो नीच से नीच गृह–कैंकर्य करने वाली दासियों को भी आत्म–सखी के समान सम्मान और स्नेह प्रदान करती हैं। पिंजड़ों में पाले हुये पक्षी भी उनका प्यार पाकर प्रसन्नता पूर्वक कालक्षेप करते हैं, पिजड़ों से खोलने पर भी श्री किशोरीजी को छोड़कर वन की ओर उड़कर जाने में वे बिना पंख के प्रतीत होते हैं।

चित्राजी : श्री किशोरीजू के नाम, रूप, लीला, और धाम में ही अत्यन्त अद्भुत प्रभाव व वैचित्र है, कुँअर–वल्लभे ! सीता ऐसा सुन्दर सुमधुर नाम स्मरण करते ही सुख–सिन्धु सामने समुपस्थित हो जाता है। रूप की तो कुछ कहिये ही नहीं, अंग–अंग से अमृत का अहर्निशि श्राव होता रहता है। नखद्युति के दर्शन मात्र से दिव्य–दृष्टि, दिव्य–प्रेम और दिव्य–रसानुभूति के साथ दिव्यानन्द में दृष्टा निमग्न हो जाता है। उनकी श्रवणाभिरामिणी एवं अमृत–वर्षिणी चरित–चन्द्रिका तो जड़–चेतन सभी प्राणि–समूहों को चन्द्र–किरण के समान ही प्रिय और पुष्टकरी सिद्ध होती है। श्री किशोरीजी का यह धाम तो परम–पद से अभिन्न–सा ही प्रतीत होता है, जिसके दर्शन मात्र से मोह, भ्रम, संशय की निवृत्ति के साथ–साथ परम कल्याण की प्राप्ति हो जाती है। अस्तु, आपकी महा महिम्ना ननँदजू की चाहे जितनी भी महिमा पूर्ण प्रशंसा प्रगल्भ–प्रबन्धों के द्वारा की जाय, वह सिन्धु के किंचित सीकरांश के सदृश ही होगी।

श्री सिद्धिजी : हमारी श्री सियाजू की लीला के यावतीय प्रकार व नियम हैं, वे सबके सब उनकी बुद्धि, कौशल्य, नीति-प्रीति तथा स्वार्थ -परमार्थ से संयुक्त श्रेयातिश्रेय गुणों के परिचायक हैं। प्रतीति होती हैं, कि बुद्धि-विकास की पर्यवसिति विदेह-वंश-वैजयन्ती वैदेही के देह तत्व में ही तत्वतः दृष्टिगोचर होती है, यद्यपि संसार की विलक्षण विसृजन कला, कला-नायक, विश्व-विधायक की अपरिमित बुद्धि का प्रमाण प्रकट है, फिर भी यही लगता है, कि उस सृष्टि-कर्ता ने संसार में आपात रमणीयता के सृष्ट्यर्थ तथा सभी स्थावर और जंगम जगत के प्राणियों को निज-सुख रक्षणार्थ, (अल्पानल्प बुद्धि विकास के लिये) श्री किशोरीजी के अनन्तानन्त-शाश्वत-सौन्दर्य तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म बुद्धि की वृहद कला से, छुद्राति-छुद्रांशिक सुन्दरता और बुद्धि को ग्रहण करके ही जड़-चेतनमय जगत की रचना की है, चित्रे !

चित्राजी : अपने मन की आपसे कह रही हूँ, कुँअर-वल्लभे ! अदृष्ट-शक्तियों की आराधना कालान्तर में क्या और कैसा फल देती हैं, ये सब बातें अदृश्य के उदर में ही हैं किन्तु हमारी विदेह राज नन्दिनीजू के प्रति की हुई, किंचित उपासना भी आशु और वाच्छा से अधिक फल-प्रदा सिद्ध होती है, जिसके प्रत्यक्ष प्रमाणीकरण के एक नहीं, अनेक उदाहरण जन्म से लेकर अद्यावधि पाये जाते हैं। हमें स्वयं का साक्षात् बोध है कि हम किसी भी प्रकार की कामना को लेकर किशोरीजू के पास जाँय तो कहने के पहले ही वे हमारे अभीष्ट को सिद्ध कर देती हैं, इसी प्रकार और-और लोगों के मुख से लाड़िलीजू के विषय में सुनी हूँ, मैं !

श्री सिद्धिजी : अरी चित्रे ! तभी तो यह सुनने में आया है कि श्री राजनन्दिनीजू के दर्शनेच्छु विश्वनियन्ता, विश्ववन्दनीय विधि-हरि-हर तथा उनकी सर्वश्रेष्ठा-सर्वाराध्या शक्तियाँ एवं अन्य देवी-देव छद्म-वेष में अनेकों बार अब तक अम्बा के प्राङ्गण में पधार चुके हैं। सबके सब देव श्री ललीजू की सामयिक-सेवा करके, उनकी श्री चरण रज को सादर शिरोधार्य करने में ही अपने को कृतज्ञ और कृतार्थ समझते हैं। कहते हैं कि एक बार सृष्टि-संहारकारी शिव-स्वरूप श्रीमान् शंकर तांत्रिक का वेष बनाकर श्री लाड़िलीजू के झाड़-फूंक के बहाने उनका दर्शन कर नृत्य करते-करते विभोर बन गये थे, अन्त में श्री सियाजू की पाद-प्रोक्षणी का प्रसाद सादर सस्नेह सिर में रखकर साश्रु-विलोचन त्रिलोचन तिरोधान हो गये थे।

चित्राजी : भूमिजाजू का भव्य आविर्भाव, भूप-मौलि निमिकुल-नरेश एवं तिर-भुक्ति-भूमि ही को केवल सौभाग्य का समीचीन संभार करने वाला सिद्ध हुआ हो सो नहीं। कुँअर-वल्लभे ! लाड़िलीजू का प्राकट्य त्रिभुवन को परमानन्द प्रदान करने वाला, उसी प्रकार सिद्ध हुआ है जैसे जग-तम को प्रणष्ट करके प्रकाश-प्रदान करने के लिये भगवान भास्कर के साथ उनकी प्रभा का उदय तथा जगज्जीवों में अपनी अमृत-वर्षा से प्रपुष्टता का पुट देने के लिये चन्द्रदेव के साथ उनकी चंद्रिका का प्राकट्य।

श्री सिद्धिजी : सहेली ! तुम्हारी वाणी सर्वथा सत्य के संस्कारों से संस्कृत है, जिसमें अतिशयोक्ति के किंचिताँश का आरोपण, व्यक्ताव्यक्त किसी रूप में भी विमर्शशील सूक्ष्म बुद्धि-वादियों की बुद्धि में नहीं उतर सकता। अपने मन में तो बस एक हृदयानन्द वर्धिनी मधुर-मधुर यही उत्कृष्ट अभिलाषा है कि जैसे हम को समातिशयता

से रहित रूप, शील, गुणगणार्णवा ज्ञानालया–ननंद प्राप्त हुई हैं तदनुरूप असमोर्ध्व–सर्वगुण सम्पन्न, सर्वश्रेष्ठ, दृष्टि–चित्तापहारी–नयनाभिराम–ननँदोई मिल जाते तो कृतकृत्य हो जाती। अन्तर की आह–भरी–पुकार के द्वारा अपने इष्टदेव से अनुनय–विनय करके नित्य–नित्य अंचल पसारकर, यही भीख माँगा करती हूँ, चित्रे।

चित्राजी : स्वामिनीजू ! निःसन्देह भक्त–भावन भगवान आपके संकल्पानुसार स्वयं संकल्प करके अपनी भक्ता की अंतर कामना को साकार बना कर सजायेंगे और प्रत्यक्तया लोक के लालची–लोचनों का लाभ, ललित–ललामों की तरह लुटा–लुटाकर अमृतानन्द का अनुभव करायेंगे।

श्री सिद्धिजी : सखी ! तुम्हारे वचन सर्वथा सत्य हों, सत्य हों। अच्छा आली ! अब अन्य आवश्यकीय कृत्य को करना चाहिये, आज अपनी अचेतन–अवस्था में सबको कष्ट का अनुभव कराया मैंने, किन्तु पीछे श्री किशोरीजी की कीर्ति का कीर्तन कर परस्पर आनन्द का आदान–प्रदान हो गया। इन सब चेष्टाओं में श्री किशोरी जी ही अव्यक्त रूप से प्रतिष्ठित हैं अन्यथा उनके बिना सुख का संचार कहाँ ? अच्छा सब अपने–अपने निवास स्थान चलें।

[सब सखियाँ श्री सिद्धिजी को प्रणाम कर प्रस्थान करती हैं।]

पटाक्षेप

....

चतुर्विंशः दृश्यः २४

[अपने राज प्रासाद में सखियों से समावृत श्री सिद्धि कुँअरिजी श्री किशोरी जी के गुणों का अनुभव कर–करके प्रसन्न हो रही हैं।]

पद श्री सिद्धिजी का :

श्यामा भई सिया रस मूरति।
सब विधि अहैं विवाह के योगहिं, जानि न जाय आस कब पूरति ।
जस सर्वाङ्ग सलोनी सीया , तस वर मिलै लखैं तृण तोरति ।
हर्षण उत्सव महा विलोकी, सिद्धिहु सर्वस पाइ विभोरति ।

[दासी, कुँअर श्री लक्ष्मीनिधिजी के आगमन की शुभ सूचना श्री सिद्धिजी को देने के लिये श्री सिद्धि–सदन में प्रवेश करती हैं।]

दासी : श्री स्वामिनीजू के जीवन की जै जैकार हो

[कह कर श्री स्वामिनीजू के चरणों में प्रणाम करती हैं।]

श्री सिद्धिजी : कहो दासी क्या समाचार लाई हो ?

दासी : देवि ! श्री मिथिलेश कुमार अन्तःपुर में पधार रहे हैं, इसलिये आपको सूचना देने आई हूँ।

श्री सिद्धिजी : अच्छा, दासी ! अपने आराध्य देव आ रहे हैं ? आने दो, वे यहाँ आने में सर्वदा सर्व भाँति स्वतन्त्र हैं अपितु मैं यहाँ रहने में उनके सहज आधीन हूँ क्योंकि

जहाँ तक स्वरूपानुरूप स्व–सत्ता की स्मृति एवं स्पृहा रहेगी मुझे, वहाँ तक प्राणनाथ की परतंत्रता ही दासी का जीवन है। अनंतानंत काल तक उनके सत्ता की मैं सेवकिनी हूँ, देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और आत्मा रूपी पूजन सामग्री का संग्रह करके हृदयेश्वर के देह, इन्द्रिय मन, बुद्धि सहित पूज्य आत्म–देवता की पूजा करने की तत्परता से समुत्सुका पुजारिनी हूँ। यही जीवन का ध्येय–ज्ञेय तथा दृढ़ निश्चय है।

[श्री सिद्धिजी स्वयं आगे चलकर आरती एवं अभिवादन करती हैं, पुनः सादर सिंहासन में बैठाकर पाद्यादि से श्री लक्ष्मीनिधिजी का पूजन करती हैं तत्पश्चात् कुँअर अपनी प्रिय पत्नी को अपने आसन में आदर से आसन देकर, उनका आलिंगन करते हैं।]

श्री सिद्धिजी : नाथ के मुख श्री की प्रसन्नता आज अन्य दिनों की अपेक्षा अत्यन्त विलक्षणता के भाव से भरी हुई भासित हो रही है, अगर कोई रहस्यमयी वार्ता न हो, तो क्या अपनी आश्रिता अर्धाङ्गिनी के कर्णों तक वह पहुँचाई जा सकती है ? प्रभो !

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये ! रहस्यमयी–गुह्यतम–वार्तायें भी क्या अपनी आत्मा से पृथक रह सकती हैं ? प्रयत्न करने पर भी यह उसी प्रकार असंभव है, जैसे दक्षिण–नेत्र से देखे हुए पदार्थ को वाम–नेत्र से न देखना। आप जैसी अनन्या–पत्नी से मुझ जैसा एक पत्नी–व्रत वाला सत्पति गोपनीय से गोपनीय बातों को छिपाने में कभी समर्थ नहीं हो सकता।

श्री सिद्धिजी : हृदय–हर्षणजू की परमोत्कृष्ट–कृपा ही ने मुझे रहस्यमयी–गूढ़तम–वार्ताओं की परिज्ञप्ति कराने की अधिकारिणी स्वीकार करने की प्रतीति और प्रेरणा प्राणनाथ को प्रदान की है, अन्यथा कहाँ यह अनधिकारिणी योषिता। अस्तु, अब अपने सुहृद, अपनी प्रियतमा के पूछे हुये, प्रश्न पर अवश्य ध्यान देने की कृपा करेंगे। यह मेरा महा विश्वास है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : सभा–सदन से अभी आ रहा हूँ, प्रिये ! आज वहाँ श्रीमान पिता जी के रखे गये एक प्रस्ताव का अनुमोदन महर्षि याज्ञवल्क्यजी महाराज तथा गौतम–पुत्र श्री शतानन्दजी महाराज की प्रमुखता में सारी सभा के सदस्यों ने एक स्वर से किया है, जिसे श्रवण करते ही आपकी प्रसन्नता रूपी सरिता में बाढ़ आ जाने से, उसमें मुझे डूब जाने का महान भय है। मेरे मुख–विकास का यही एकमात्र कारण है और कुछ नहीं।

श्री सिद्धिजी : क्या कहूँ नाथ ! अपने कर्णों की आतुरता को, पिपासा को शमन करने वाला पेय दिखलाकर प्राणेश्वर ने इनकी तृषा को और भी बढा दिया है। अब ये ऐसे लोकोत्तर, उदात्तोपकारक, दयालु–दानी के दृष्टि–पथ में पड़कर तड़पते हुये तृषित कैसे रह सकेंगे ? यह प्रतीति ही श्रवणों में प्राण का संचार कर रही है, जिससे उनका जीवन अब तक सुव्यवस्थित है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रियतमे ! भगवान भूत–भावन के भूरि–भार कठिन कोदण्ड को पंच–वर्षीया हमारी सुकुमारी किशोरी ने कौतुकवश बायें हाथ से हीं बिना परिश्रम के सहज उठा लिया था और उसके निम्न स्तर में पडे हुए तृण–जालादि कचरे को भी दायें हाथ से हटाकर धनुर्भूमि को स्वच्छ कर दिया था, यह वार्ता आपसे अविदित नहीं है, क्योंकि आपका निवास उस समय श्वसुर–गृह ही में था।

श्री सिद्धिजी : आर्य ! यह आश्चर्यमय, अपूर्वभूत, अद्‌भुत–कर्म श्री किशोरी जू का उसी प्रकार था जैसे बाल–हंसिनी का मेरु–पर्वत उठाना। पुरजन–परिजन समेत

अम्बा और दाऊ श्री सियाजू के इस अलौकिक और अमानवीय-पुरुषार्थ को देखकर, उनके जन्म-समय में सुनी ब्रह्म-वाणी पर विश्वास करके अपनी लाडिली के अनुरूप वर के साथ विवाह करने के दृढ़ निश्चय में थे। यहाँ तक तो मुझे ज्ञात है, शेष समाचार श्री मुख से ही श्रवण कर मन को सम्यक्-समाधान की प्राप्ति हो सकती है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये ! निसर्गपूता श्रीकिशोरी जी के परिणय-संस्कार करने की चिन्ता से चिन्तामग्न श्री दाऊजी को, अपनी आराधना और स्तुति से प्रसन्न होकर, आशुतोष औढरदानी श्रीमान् शंकर भगवान ने अपना अभिमत आदेश दिया कि, "अपनी अयोनिजा कन्या को किसी अयोनिज वर को अर्पण करने के लिए तुम्हें उसका अन्वेषण करना होगा, उस पुरुष का अन्वेषण दर्शन और प्राप्ति हमारे निर्दिष्ट-मार्ग को अपनाने से ही सम्भव है। आपके पूर्वजों से पूजित हमारे पिनाक नामक धनुष को उठाकर जो कोई उसकी प्रत्यंचा चढा देगा उसी वीरवर्य को वीर्य-शुल्का विदेह-राजनन्दिनीजू विश्वविजय और अक्षय-कीर्ति के साथ वरण करेंगी, इस प्रकार आपकी प्रतिज्ञा की घोषणा समस्त भू-मंडलीय-महिपालों के कर्णों तक पहुँच जानी चाहिए। बस आपको इसी उपाय से प्राप्तव्य की प्राप्ति हो जाएगी। साथ ही आपकी अमल-कीर्ति का अत्यन्त विकास, त्रिभुवन को चरम उपदेश देकर अमरता प्रदान कराता रहेगा।" सुनकर पूज्य-पिताजी ने भोले भगवान की आह्लाद-कारिणी-आज्ञा को, उन्हें प्रणामकर सादर शिरोधार्य किया और धर्म-सभा में सबके सामने शिवानुशासन के संरक्षण का प्रस्ताव रखकर, आज संत-गुरु तथा और-और पूज्य-प्रतिष्ठित महानुभावों से उसका पूर्ण समर्थन पाया। तदनंतर देश-देश में समाचार भेजने का आदेश देकर दूतों की नियुक्ति भी कर दी गई है, साथ ही इस महान-मनोभिलषित-आवश्यक कार्य की पूर्ति के लिये तत् कार्य के अंग रूप में एक महान यज्ञ का अखण्ड-अनुष्ठान भी होगा, जो वर्ष पर्यन्त अशिथिल चलता रहेगा। अस्तु, अब अपने यहाँ इस मांगलिक कार्य के प्रारम्भ काल से पूर्णता पर्यन्त नव-नव आनन्द का आन्दोलन अनवरत, आकाश और अवनि को एक किये रहेगा और इसी के मध्य वह बहुमुल्य नीलम भी मिल जायेगा, जिसे सुन्दर सुवर्ण की मुद्रिका में नगीने की जगह जड़ाकर मिथिलापुर-वासी नर-नारियों के लोचनों का विषय बना दिया जायेगा। हमारे हृदय में हर्ष के अधिकता का एक मात्र कारण यही है, प्राण वल्लभे !

श्री सिद्धिजी : (हर्ष से भरकर) अहा हा ! कितना मधुर, कितना शांतिप्रद, शोभन-संवाद है यह, प्राणनाथ ! यह श्रवण-प्रिय, कथा-सुधा, आपके मुख-मयंक से विनिस्सृत होकर हमारे हृदय सरोवर में संप्रविष्ट कर गई है, अब वहाँ से इतनी उत्ताल-तरंगें उछल रही हैं कि मेरा सारा शरीर प्रदेशप्लावित हो गया है। कृतज्ञता प्रकट करती हुई, यह किंकरी आपके श्री चरणों को चूम-चूम कर आपका अभिवादन कर रही है, इसके अतिरिक्त दासी कर ही क्या सकती है ? आत्मा और आत्म-सम्बन्धित सभी वस्तुएँ एवं चेष्टायें तो स्वयं आपकी नियत वस्तु है। अस्तु, आप अपनी कृपा से ही मुझ से पूर्ण प्रसन्न रहें। इस संदेश के अनुरूप-औचित्य में असमर्थ हूँ क्योंकि मैं अपनी नहीं अपितु आपकी हूँ।

स्वामिन ! अत्यधिक आनन्द का सुअवसर अब अपनी आँखों से ओझल अधिक दिन नहीं रह सकता, जिसे देखने के लिए मेरे लोभी-लोचन बहुत दिनों से ललक रहे थे। वह परम-पावन समय सन्निकट आ गया है, जिसे प्राप्तकर हम अपनी ननँद तथा उनके

सर्वथा अनुरूप अपने ननदोई को कोहवर-कक्ष-बिहारी-बिहारिणी बनाकर अनेक प्रकार की परमैकान्तिक लीलाओं से युगल-मूर्तियों का मनोरंजन करेंगी तथा उनके साथ रास, रंग, हास-विलास कर करके अपने को उमा-रमा-ब्रह्माणी से स्पृहणीय बना लेंगी।

(श्री सिद्धिजी तत्सुख की कल्पना का स्मरण कर आनन्द मूर्छा को प्राप्त हो जाती हैं।)

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (उपचार से चैतन्यता प्रदान कर) प्रियतमें ! आपका हृदय हम जैसा हृदय नहीं, वह तो बिना बाँध का प्रेम-सिन्धु है, जो आठों-पहर अपने में ही अठखेलियाँ खेलता रहता है, उसे किसी की अपेक्षा निर्भर नहीं करती। कहीं वह पूर्ण चन्द्र का दर्शन कर पाया तो फिर कहना ही क्या है, विशेष द्रुत गति से बेला का भी उल्लंघन करके किनारे के सभी प्राणी पदार्थों को आत्म-सात किए बिना नहीं रहेगा। यथेच्छा आनन्द का अभ्युदय अवश्यमेव सदा प्रसन्न आचार्य चरण की अहैतुकी-अपार-अनुकम्पा से तथा कल्याणकारी-शंकर भगवान के प्रसाद से शीघ्र ही हम लोगों के अनुभव में आने वाला है, इसमें कोई संदेह नहीं कि आप अपनी आशा-लता को कुछ काल में सौरभ संयुक्त सुन्दर कुसुमों से कुसुमित पायेंगी। यह ज्ञानियों की ज्ञान-नगरी, प्रेमियों की प्रेम-पुरी उसी प्रकार बन जाएगी जैसे नीले-पीले पुष्पों के प्रतिबिम्ब से सफेद शुद्ध-स्फटिक-मणि नीले-पीले रूप में परिवर्तित हो जाती है।

श्री सिद्धिजी : कृपा पूर्ण-प्राणनाथ मेरी आत्मा हैं, अस्तु प्रत्येक परिस्थितियाँ और प्रत्येक आशायें आपके सकाश से ही समुद्भवता को प्राप्त होती हैं। मेरी न कोई महत्ता है, न व्यक्तित्व। हाँ प्यारे ! एक बात और पूछनी है कि अपने आचार्य-प्रवर श्री याज्ञवल्क्यजी महाराज से संकेत किये हुये श्री चक्रवर्ती-नन्दन श्री रामजी महाराज ही हमारी महाराज-कुमारी के भावी-पति हैं न ? इसलिए धनुष पर वे ही प्रत्यन्चा चढ़ा सकेंगे न ?

(माधुर्य में भरकर) श्रीमान् पिताजी के प्रणानुसार कहीं कोई अन्य राजकुमार आकर भारी-भार से युक्त परम प्रचण्ड पार्वति-पति के पिनाक को तौलने लगे तो....

[श्री रामजी की प्राप्ति की अन्तर-अभिलाषा में आघात करने वाली शंका तथा अप्राप्ति के अनुभव की कल्पना कर श्री सिद्धि कुँअरिजी 'हाय' कहकर प्रेम-वैचित्र्य की स्थिति में मूर्छित हो जाती हैं।]

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (बिना विचारे हुए शीघ्रता के साथ) इस तरह से अवश्य एकमात्र किशोरीजू के सर्वथानुरूप, दाशरथि राम की प्राप्ति शंकास्पद है, प्रिये !

[कहकर श्री कुंअर लक्ष्मीनिधिजी का हृदय अधीर होकर श्री सिद्धिजी का अनुवर्तन करने लगा। चित्राजी उपचार के द्वारा चैतन्य कर..]

श्री चित्राजी : मिथिलेश कुमार ! आपके भव्य-भावनाओं के सारे स्वरों को सुझंकृत करने वाली आपकी परम्परागत, परिष्कृत और परिमार्जित रामाभिमुखी, अन्तर-व्यापिनी उदात्त-भक्ति से साधना पेक्षा रहित असाध्य भी साध्य होकर सरलता से निःसन्देह आपका अनुगामी बन जायगा। अस्तु, आचार्य वचनों को न भूल कर पूर्ण प्रतीति के प्रबल-प्रताप से आप धैर्य का आश्रय ग्रहण करें और अपनी प्रियतमा को प्रमाण रहित प्रेम-पंक में फँसी हुई जानकर अन्तस्थल से बाहर लाने का प्रयास करें अन्यथा उनके प्राणपखेरू के उड़ने में क्या विलम्ब लगेगा?

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (प्रकृतिस्थ होने पर अचेतन–सी श्री सिद्धि कुँअरिजी को हृदय में ले लेते हैं, स्पर्श और अन्यान्य–उपचारों से अर्ध चेतनावस्था आने पर...) प्राणवल्लभे ! अपने नेत्र–भवन के दोनों पलक–पल्लों को खोलिये, मैं आपके अन्तःपुर में प्रवेश करने के लिए कब से ललच रहा हूँ, तुम्हारे पथ में पड़ा–पड़ा तुम्हारी ही प्रतीक्षा में अब अपने को नहीं सह रहा हूँ।

श्री सिद्धिजी : (साश्रु विलोचना प्रकृतिस्थ होकर कुँअर के श्री चरणों में अपना मस्तक रख देती हैं।) अहा ! अभागिनी ने अपने जीवन धन जू को कितना कष्ट दिया, क्षमा करेंगे नाथ ! इस बावली के बावलेपन से किये गये अपराध को।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये ! आपकी प्रेम–पयस्विनी का स्रोत, संवेग–गति से गहन–वनों को पार करता एवं पर्वतों को फोड़ता–फाड़ता हुआ, प्रेम सागर में मिल कर ही शाश्वत–शान्ति का सम्यक लाभ ले सकेगा, इसमें संशय और कुतर्क का स्थान नहीं है। चक्रवर्ति–कुमार श्री राम जी महाराज के रूप, गुण तथा शील–स्वभाव को श्रवण करके ही जब हम लोग उनके पूर्व रागानुबन्धन में भली–भाँति बँध गये हैं, तो उनके प्रत्यक्ष अनुभवानन्द की अनुभूति कैसी होगी ? कहाँ से कहाँ ले जायगी ? और क्या से क्या करेगी? अपने अनुमान के प्रमाण से वह नहीं मापी जा सकती।

श्री सिद्धिजी : मेरे नाथ ! श्री सीताराम जी के विवाहोत्तर–काल के काल्पनिक–भावी सुख की सम्प्राप्ति में संशय का स्पर्श जब हम लोगों को उद्विग्न बनाकर जीवन–संशय की स्थिति में स्थित कर देता है तब उन सुख सागर के संलाभ, संलाप, सम्प्रयोग और संस्पर्श को पाने के पश्चात् वियोग की वह्नि तो बिना भस्म किये न छोड़ेगी।

[पुनः श्री सिद्धिजी प्रेम विभोर अवस्था को प्राप्त हो जाती हैं।]

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (चेतना देकर) प्रियतमे ! प्रावण्य में अधीरता एवं प्रेय–तत्व के प्राप्ति में संशय के आक्रमण समय–समय पर होते ही रहते हैं किन्तु यह सब प्रेमास्पद के किसी दोष के कारण नहीं, वरन् अपने स्वभाव से आते हैं, जो प्रेम के परिचायक तथा हृदय में स्नेह की मात्रा कों वृद्धिगत करने वाले होते हैं। प्रिये ! हम लोगो को अपने आचार्य श्री के वचनों में प्रत्यक्ष प्रमाण से भी अधिक प्रतीति करनी चाहिये। जब हमारे उद्धारक श्री याज्ञवल्क्यजी महाराज की भविष्यवाणी ही हो चुकी है कि श्री किशोरीजी की वैवाहिक–क्रिया का सम्पादन श्री चक्रवती दशरथनन्दन श्री रामजी के साथ होगा तब हमें–तुम्हें अपने मन में आंशिक अविश्वास को भी स्थान नहीं देना चाहिए। श्री हरि–गुरु–संतों के प्रसाद से सुफल मनोरथ होंगे, हम लोग। श्री शम्भु के धनुष की प्रत्यञ्चा अन्य किसी राजकुमार के कर से चढ़ ही नहीं सकती, क्योंकि चन्द्रमौलि ने उसे श्री रामचन्द्रजी ही के हाथ चढ़ने का आदेश दिया है, इस वार्ता को हमारे श्रीमान दाऊ साहब जानते हैं किन्तु भगवान भूत–भावन की आज्ञा से श्रीरामजी को लोक में विश्वातीत–विजय और कीर्ति के साथ श्री सियाजू को प्राप्त करने के लिए भू–मंडल के महिपालों को यज्ञ में आमंत्रित कया गया है। अस्तु आप आशंका को हृदय में स्थान ही न दें, ताकि आपके चन्द्रमुख की कान्ति–कमनीयता को शोक का राहु अपहरण न करे।

श्री सिद्धिजी : प्राणधन ! हमारे कुल–पूज्य, ज्ञान–गुरु के वचन सदा सत्य–स्वरूप हैं। "हमारा विवाह आपके साथ होगा"। यह भविष्यवाणी उनकी जैसे सत्य होकर

रही, वैसे ही श्री किशोरीजू का परिणय श्री रामजी के साथ अवश्य-अवश्य होगा, जानते हुए भी न जाने कैसे किधर से किस छिद्र से संशय-समीर प्रवेश करके, चित्त-तरु में चंचलता उत्पन्न कर देता है, प्रभो ! अपने हृदय का अन्वेषण करने पर, आचार्य श्री के वचनों पर किंचित मात्र अप्रतीति का दर्शन दुर्लभ हो ज़ाता है, फिर भी ऐसा क्यों ?

श्री लक्ष्मीनिधिजी : जैसा कि हमने प्रथम आपसे कहा कि यह सब लक्ष्य प्राप्ति की आतुरता का आश्चर्यजनक दृश्य है, प्रिये ! विश्राम की वेला विनीत-भाव से सबको विश्राम करने के लिए प्रेरित कर रही है। अस्तु, अब आराम करना चाहिए।

श्री सिद्धिजी : समयोलंघन के अपराध को कृपा-सिन्धु क्षमा करेंगे। पलंग पर शयन किया जाय। दासी थोडी सी चरण-सेवा कर अपन हृदय में शान्ति- सुख की अनुभूति करें।

[दोनों शयन-कक्ष को मन्द-गति से प्रस्थान करते हैं।]

पटाक्षेप

....

पञ्चविंशः दृश्यः २५

[श्री लक्ष्मीनिधिजी शयन-शय्या पर ब्रह्म-मुहूर्त के किंचित पहले एक स्वप्न दर्शन कर व्याकुल-वदन विलखते हुये जाग उठे और 'हा श्यामसुन्दर' 'हा प्राण प्रियतम' 'हा रघुनन्दन राम' कहकर रोते हुये हिचकियाँ भरने लगे। श्री सिद्धि कुँअरिजी जगकर कुँअर के अश्रु-बिन्दुओं को पोंछती हुई, अपने शरीर से उन्हें टिका लेती हैं। साथ ही उपचार द्वारा प्रकृतिस्थ करने की चेष्टा करती हैं।]

श्री सिद्धिजी : (पति के प्रकृतिस्थ होने पर) आज आर्य नन्दनजूं को जागने के साथ, सच्चे सुहृद के संप्राप्ति की त्वरा ने विरह-वह्नि की ज्वाला को और भी प्रज्वलित करके अधीर बना दिया। धू-धूकर धधकती हुई, उस अग्नि ने इस अबला के अंगों को अपने आँच से ऐसा तपाया कि स्वताप के शमन करने का संस्मरण भी चित्त में न रहा। हाँ, हरि कृपा से प्राणनाथ के पवित्र हृदय को प्रशान्त तथा सुशीतल बनाने के प्रयास में यह असमर्था सफल हुई यह आश्चर्य का विषय है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : तभी तो प्रिये, आपके अंगों का स्पर्श इस समय अग्यालिंगन की समानता कर रहा है। मैं बडे विचार में मग्न थां कि आज आपका शरीर इतनी उष्मा से परिव्याप्त क्यों? अब समझ में आया कि मेरे पागलपने ने अपने में आपको भी आत्मसात कर लिया था किन्तु श्रीधर-कुमारी अपना धैर्य न खोकर मुझे सचेत बनाने के लिए स्वयं सचेता जैसा व्यापार करती रहीं, धन्य है, मेरी प्रियतमा की पति-प्रेम-परायणता को।

श्री सिद्धिजी : हे हृदयेश्वर जू ! आज यह ब्रह्मी-बेला, ब्रह्म-विवेक से पृथक कर, विरहाग्नि से संतप्त करने वाली कैसे सिद्ध हुई, आपको ! किंकरी के कर्ण रन्ध्रों तक कृपा कर संदेह को समाधान करने वाला रहस्य पहुँचाया जा सकता है क्या ?

श्री लक्ष्मीनिधिजी : मैंने स्वप्न में सौन्दर्यसार-माधुर्य-महोदधि श्यामसुन्दर रघुनन्दन राम को, कनकोज्वल-चम्पक वर्ण-कमनीय-कान्ति से युक्त सुमित्रानन्दन

लक्ष्मणकुमार के साथ नयनों का विषय बनाया है, प्रिये ! वे लोक-लोचनाभिराम युगल कुमार हमारे नगर के बाहर एकान्त-उपवन में श्री गाधिनन्दन विश्वामित्रजी महाराज के साथ ठहरे थे। मैं उनसे मिलने गया, हृदय से हृदय लगाकर तज्जनित आनन्दानुभव करते-करते अल्प समय में ही जाग उठा । हाय ! हाय ! मेरे आँखों के तारे मदन मोहन दाशरथि राम कहाँ गये...

[कह कर पुनः प्रेम-मूर्छा में हा श्याम सुन्दर ! हा प्राणेश्वर...]

श्री सिद्धिजी : (सचेत करके) आर्य ! अवश्यमेव यह सुखप्रद-सुन्दर स्वप्न सत्य के साँचे में ढला हुआ, प्रतीत हो रहा है। देखिये, आपका दायाँ और मेरा बायाँ अंग बार-बार फड़क रहा है। अहा ! आपके दायें हाथ की हथेली में यह इष्ट-दर्शन की दिव्य रेखा कितनी गहराई के साथ सुस्पष्ट उदित हो गई है। शुभप्रद-शकुनों का बाहुल्य और मन की परम प्रसन्नता तो कई दिनों से हम लोगों को सूचना दे रही है कि शीघ्रातिशीघ्र अपनी अभीष्ट वस्तु अपने से ही अपने घर आयेगी। अस्तु, चिन्ता को चित-चोर के चरणों में चढाकर आह्निक-कृत्यों को अविलम्ब करने की कृपा हो क्योंकि भगवत-कैंकर्य में अधिकार प्राप्त करने के लिए नित्य कर्मों का अनुष्ठान करना अनिवार्य है, नाथ !

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये ! आपकी अमृतमय-मधुरातिमधुर वाणी से मुझे सर्वथा शान्ति का समनुभव हो रहा है। लीजिये, मैं करणीय-कृत्यों को करने चला।

[श्री लक्ष्मीनिधिजी स्नान-संध्योपासन-अग्निहोत्रादि करके पुनः स्वप्न का अनुभव करते हुये, श्री सिद्धिजी के साथ अपने सदन में बैठे हैं। दासियाँ सेवा में समुपस्थित हैं। इतने में दासी का प्रवेश...]

दासी : श्री मिथिलेश कुमार के जीवन की जै-जै कार हो। प्रभो ! बाह्यकक्ष की ड्योढ़ी से मुझे खबर मिली है कि तपोमूर्ति आपके ज्ञान-गुरु महर्षि श्री याज्ञवल्क्यजी महाराज आप श्री के समीप अन्तःपुर में पधार रहे हैं।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (श्रवणकर प्रसन्नता से भर जाते हैं) प्यारीजू ! प्रातः स्मरणीय परम पूज्य हमारे श्री आचार्य-चरण, आज अपनी अहैतुकी कृपा से अपने दास के गृह को पवित्र करके परम लाभ का दान देने आ रहे हैं। अहा ! अभूत पूर्व-परम सौभाग्य-सम्पदा, शिष्य को सम्यक् प्रकार से प्रदान करना एक मात्र परम कृपालु सदाचार्य का वैशिष्ट्य है, यह कार्य अन्य से नहीं बन सकता। मैं धन्य हो गया, कृतार्थ हो गया ।अहो! आचार्य श्री की अनुकम्पा की अधिकाराप्ति ही तो मोक्ष अर्थात् परम पद है।

[हर्ष से अश्रु-विलोचन गद्-गद् कण्ठ से नाच उठते हैं।]

प्रिये ! आप यहाँ यथेष्ट पूजन-सामग्री तैयार करें और मैं बाहर जाकर सादर सम्मान पूर्वक श्री आचार्य देव को अन्तःपुर में लिवाये ला रहा हूँ। अहो ! आगे चलकर प्रेम प्रपूर्णाङ्ग सद्गुरु देव को दण्डवत करना एवं उनकी आज्ञा का अनुवर्तन करना ही तो श्रेष्ठ ज्ञान है।

श्री सिद्धिजी : प्राणनाथ ! बात की बात में यहाँ सब सामग्री पूजन की उपस्थित हो जायगी। आप चलें, पीछे से मैं भी आगे चलकर आचार्य-चरणों के दर्शन का सुअवसर स्वनेत्रों को सम्प्रदान करूँगी।

(श्री लक्ष्मीनिधिजी बाहर जाकर साष्टाङ्ग प्रणिपात निवेदन कर १००८ सर्वाङ्गीण सुन्दरी-सवत्सा गायें भेंट में बिना अहं के अर्पण करते हैं।

पुनः रथ से श्री गुरुदेव के कर-कमल पकड़कर स्वयं उतारते हैं। पंच-ध्वनि के साथ सविधि सम्मान पुरःसर करके स्वयं छत्र-चमर लिये हुये, अन्तःपुर में श्री याज्ञवल्क्य जी महाराज को प्रवेश कराते हैं।)

श्री सिद्धिजी : (आगे चलकर मंद स्वर से) अखिल-मुनि-मार्तण्ड महर्षि महाराज के श्री चरण-कमलों में दासी का शिरसा, वचसा, मनसा, सहस्त्रशः, सादर प्रणाम है।

श्री याज्ञवल्क्यजी : चिरञ्जीवि बेटी ! चिरञ्जीवि ! परमार्थ-पथ की प्रवीणपथिके ! तुझे क्या आशिर्वाद दूँ ? तेरे मन के सभी मनोरथ सफल होते आये हैं और आगे भी होते रहेंगे। फिर भी आज तुझे देने के लिये अनल्प-वस्तुओं का कुछ संग्रह लाया हूँ किन्तु बैठने पर ही एकान्त में उस गठरी की गाँठ खोलूँगा, मैं।

[शिर नत, हाथ जोड़े हुये संकोच और शील के कारण कुछ कह नहीं पाती। श्री लक्ष्मीनिधिजी, श्री महाराज जी को अन्तःपुर के सुन्दर-सिंहासन में पधरवाकर सपत्नीक उनका षोड़षोपचार पूजन, आरती, प्रदक्षिणा और मंगलानुशासन करके आचार्य श्री के संकेत से चरण-चौकी के पास बैठ जाते हैं।]

श्री लक्ष्मीनिधिजी : दास के घर में स्वामी का शुभागमन अमंगलों का शोषक और सर्व मंगलों का पोषक है, नाथ ! अपने आचार्य देव की कृपा को पाकर इस अबोध शिशु शिष्य को अब क्या पाना अवशेष रह गया है ? फिर भी लगता है कि आप श्री किसी सेवक के द्वारा, अपने अधीन इस दास को बुला लेते, स्वयं कष्ट सहकर इतनी दूर आचार्य-चरण न आते तो अच्छा होता। कोई विशेष कारण हो तो दास का उपयोग अपनी इच्छानुसार किया जाय। आप श्री का आदर युक्त अनुवर्तन ही इस शेषभूत शिष्य का सहज स्वरूप है। प्रभो !

श्री याज्ञवल्क्यजी : वत्स ! तुम्हारी आचार्यनुकूलता एवं सहिष्णुता के साथ विनम्रता पूर्ण औदार्य का यह आदर्श, आदरणीय ही नहीं अनुकरणीय भी हैं। तुम्हारे शील स्वभाव के चिन्तन और मनन ने मेरी आत्मा को अपने समेत अपना सर्वस्व समर्पण, तुमको कर देने के लिये बाध्य कर दिया है। तुम दोनों के पास आने का एकमात्र यही प्रयोजन है। अन्य आशायें सहज ही में तिरस्कृत होकर आत्मा में अस्त हो गई हैं जिनका दर्शन स्वप्न में भी संभव न हो सका आज तक।

(श्री लक्ष्मीनिधिजी, श्री सिद्धिजी सहित चरणों में गिरकर गद्-गद् हो गये। कृपा का अनुसंधान कर दम्पति अश्रु-विमोचन करने लगे। शान्त, निस्तब्ध हो गया वातावरण किन्तु कुछ ही काल में धैर्य धारण कर...)

श्री लक्ष्मीनिधिजी : जगतवन्द्य-जगदीश्वर हमारे गुरुदेव की दास के लिये क्या आज्ञा है, कर्ण श्रवणातुर हो रहे हैं।

श्री याज्ञवल्क्यजी : वत्स ! जिसका नाम तुम्हारी सती जिह्वा का आहार है, जिसके अदर्शन में तुम्हारी उदासी आँखें प्यासी मर रही हैं जिसके चरित्र का चिन्तन कर-करके तुम जीवन-धारण कर रहे हो, जिस परमार्थ-तत्त्व का परम बोध शास्त्र-शोधन तथा आचार्यनुकम्पा से तुम्हें पूर्ण प्राप्त है, जिस पर परब्रह्म परमात्मा को तुमने अपने बुद्धि-वैलक्षण्य से बुद्धि-दर्पण में प्रत्यक्ष दर्शन कर लिया है, जिसे जानकर अपने पूर्वजों की तरह तुम "ब्रह्म-स्वरूप" ब्रह्मविद बने हुये, मुनि-कुल-कमल को स्वकीय ज्ञानमयी-

रवि-रश्मियों से विकसित करते रहते हो तथा वेद-वाक्यानुसार जो देखने योग्य, श्रवण करने योग्य, निदिध्यासन करने योग्य और अन्वेषण करने योग्य है, वे ही पूर्णतम, परब्रह्म दाशरथि-राम, अपने अनुज लक्ष्मण कुमार के सहित, मुनि विश्वामित्रजी के साथ पुरवासियों के सौभाग्य से नगर के बाहर एक परम रम्य-अनुपम अमराई में पधार कर ठहरे हुये हैं। हमारे एक शिष्य ने आकर मुझसे यह वार्ता सुनाई और मैं तुरन्त तुम्हारे समीप इसलिये चला आया कि तुम अपने अदृश्य-आराध्य को इन्द्रियों का विषय बनाकर आलिंगनादि उपक्रमों द्वारा उसका अनिर्वचनीय-अनुभव करो। अस्तु, पिता, बन्धु-बान्धव, विप्र-बन्दी, सचिव-सेनप, शूर, परिजन-पुरिजन और पुरोहितों को लेकर पंच-ध्वनि के साथ सादर उनकी अगुआनी उनके अनुरूप करके विरह-बधिक के उत्पीड़न से उत्पीड़ित अपने लोभी-लोचनों को सफल और सुखी करो। हम भी अलग से अपने आत्मा-राम के दर्शन से अपनी आँखों की अधीरता को शीघ्रशमन करने का प्रयास करेंगे।

[श्री लक्ष्मीनिधिजी, श्री सिद्धिजी के सहित हर्ष से भरकर आनन्द मूर्छा में निमग्न हो जाते हैं, और अर्ध चैतन्य होने पर...]

श्री लक्ष्मीनिधिजी : हमारे आचार्य-चरण, कृपासिन्धु की अहैतुकी अनुकम्पा की जय हो, सदा जय हो....

श्री याज्ञवल्क्यजी : (स्पर्श कर सचेत करके) वत्स ! श्रवण-सुधा से तुम्हारे संतप्त-हृदय को शान्ति तो संप्राप्त हो गई है किन्तु चिरकाल से तृषित इन अपने आतुर-दयनीय-दोनों दृगों की तृषा को इष्ट-दर्शन का दिव्य-पेय पिलाकर श्रान्त करो, उठो, धैर्य का अवलम्बन लो। अब आत्मा में रमण करने वाला परब्रह्म परमात्मा तुम्हारे हृदय का आलिंगन पाने के लोभ से अत्यन्त आतुरता के साथ अगोचरत्व को जहाँ का तहाँ त्याग, गोचरत्व का दर्शन कराने के लिये वैदेही के स्वयंवर में विदेह के यहाँ सदेह आ गया है। धन्य है उसकी प्रेम-पराधीनता को...।

अहो ! मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्धि, ललना, आज्ञा और सहस्त्रार नामक आठ-चक्रों में स्थित नव-द्वारों वाली ब्रह्म-नगरी में रहने वाला ब्रह्म आज मिथिला-नगरी में (प्रेम-नगरी) बिहार करने के लिये ललचाये लोचनों से समुत्सुक, तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है। अस्तु, उसे सफल मनोरथ बनाने के लिये शीघ्रातिशीघ्र सावधानी के साथ समयोचित-सारतम-कार्यों का सम्पादन करो।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (साश्रु सिद्धिजी के साथ चरणों में बार-बार प्रणाम करके, करबद्ध सर्वसाधन-हीन, सर्वथा मायाधीन तथा पाप-मूर्ति अपने तुच्छ-शिष्य की अकिंचनता से ही संतुष्ट होकर अकारण-करुणा-वरुणालय गुरुदेव ने आज अपना गुरुतम-गुरुत्व प्रकट कर चर्म-चक्षुओं का विषय बना दिया है। क्या कृतज्ञता प्रकट करूँ? मेरे पास इस महोपकार के अनुरूप कोई शब्द भी नहीं है। आप अपने स्वभाव से ही सेवक पर संतुष्ट एवं प्रसन्न बने रहें। आज्ञा शिरोधार्य है, नाथ !

श्री याज्ञवल्क्यजी : कुँअर यह वार्ता रहस्य की है। किसी से श्रीराम की ऐश्वर्य-परक चर्चा न करना। अब मैं अपने आश्रम को जा रहा हूँ। तुम मेरे निर्देश के निर्वाह में प्रयत्नशील बनो।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : नाथ की आज्ञा का अनुवर्तन अविलम्ब होगा क्योंकि स्वयं की आँखें अत्यन्त आतुर हो रही हैं, इनसे समय का विलम्ब इतना असह्य हो रहा है, जितना पाने के लिय परोसे हुये थाल को देखकर एक क्षुधातुर को।

[श्री याज्ञवल्क्यजी प्रस्थान करते हैं, पति-पत्नी उन्हें बारम्बार प्रणाम करके सादर द्वार तक पहुँचाते हैं। पुनः....श्री लक्ष्मीनिधिजी लौटकर प्रेम पूर्ण पारस्परिक चर्चा करते हैं।]

श्री सिद्धिजी : प्राणनाथ का स्वप्न साकार बनकर सर्व-सादृश्यता लिये हुये संम्मुख आ गया। अहा... ! इस अपावन-निकृष्ट नारी को भी नारायण मिलेंगे ? अपने पति-परमेश्वर की कृपा से पति-परायणा पत्नी को बिना साधन के असंभव, संभव, असाध्य-साध्य, अशक्य, शक्य, और अगोचर, गोचर हो जाता है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण नित्य-नित्य की मेरी अनुभूति है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (हर्ष से भरकर) प्रियतमे ! अपने गुरुदेव की कितनी अपरिमेय कृपा है। प्रभु-प्राप्ति रूप लाभ से मुझे लाभान्वित करने के लिये, प्रभुता का परित्याग कर स्वयं मेरे आवास पर आमंत्रण देने चले आये। धन्यवाद है, आचार्य देव की अनुकम्पा को जै हो सदगुरुदेव, आपकी सदा जय हो।

श्री सिद्धिजी : आर्य ! अपने आचार्य देव में अनन्तावकाशमय आकाश के तले रहने वाले, अनन्त जगज्जीवों के कल्याणार्थ यथोचित सर्वाङ्गपूर्ण आचार्यत्व करने की क्षमता है। कृपा-मूर्ति, करुणा-वरुणालय, स्वकीय सद्गुरुदेव की कृपा से, अब हम लोगों को अत्यन्त सन्निकट समय में सगुण-साकार ब्रह्म के विशद, दिव्य-दर्शन सुलभ होंगे।

[प्रेमातिशयता से श्यामघन की स्मृति मात्र से श्री सिद्धिजी का मन-मयूर नाचने लगा।]

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (प्रेम-विभोर होकर पुनः प्रकृतिस्थ होने के पश्चात्...) प्रिये ! ये हमारी आँखें आज श्याम सुन्दर रघुनन्दन का दर्शन करेंगी। बडे-बडे योगियों की समाधि से सुदुर्लभ भगवान आज अपने जन को हृदय से हृदय लगाकर मिलेंगे। अहा....! आनन्द ! आनन्द !!

[श्री लक्ष्मीनिधिजी नाच पडे, श्री सिद्धिजी भी उनके मन में मन और स्वर में स्वर मिलाकर भाव-नृत्य करने लगीं।]

दोनों गाते हैं : भवन मिले भगवान हमारे।

स्वयं आइ सेवक निज जानी, दीन्हे महतो मान।
श्री गुरु दीन दयाल दया ते, पूर्ण मनोरथ जान।
जेहि महँ जोगी रमत निरन्तर, शंकर धरते ध्यान।
हर्षण ताहि हृदय में लै के, रहि हैं भुज लपटान।

[नृत्य करते-करते प्रेमाम्भोधि में दम्पति लय हो जाते हैं, पुनः सखियों दासियों द्वारा सचेत होने पर]

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये ! अब मुझे शीघ्र श्रीमान् पूज्य पिताजी से अपने श्री आचार्यदेश को निवेदन करने के लिये जाना चाहिये। तथा अपने अभीष्ट अतिथि देव से मिलकर, उन्हें तदर्ह स्वागतोपचार के साथ सर्वश्रेष्ठ सुन्दर-सदन में वास देना चाहिये।